

उर्वशी : उपलब्धि और सीमा

[दिनकर की 'उर्वशी' का एकदम मौखिक विश्लेषण]

प्रो० विजेन्द्र नारायण सिंह
भागलपुर विश्वविद्यालय

ज्ञानालोक, पटना-४

प्रकाशक
ज्ञानाभोक्त
दशोक्त रात्रपथ पटना ४

प्रथम आवृत्ति १९६५

मूल्य : तीन रुपये पचास पैसे

मुद्रक
कैसरवानी प्रेस
रसाहाबाद

डा० धर्मवीर भारती को
जिनकी अदभुत प्रतिमा से
मैं अभिभूत रहा हूँ।

भूमिका

स्वयं इस पुस्तक के सम्बन्ध में क्या लिखूँ ? पिछले तीन वर्षों से दिनचर्या ही पढ़ता रहा हूँ। ममता मुकुन्दार थीज होती है। उसकी क्या कोई व्याख्या की जा सकती है ? 'उबरी' मेरी इस ममता का मुख्य कन्द्र रही है। उन कितनी बार पढ़ गया हूँ बार नहीं है।

किन्तु आत्मोत्थक का तो ममता से मुक्त होना ही पड़ता है। तुमना और विश्वपण्डित यही वा आचार मेरे सहामक रहे हैं। कोई भी साहित्यिक कृति निरालं थीज नहीं होती है। बेचना यह हाता है कि अपने इतिहास की परम्परा में उनका क्या स्थान हो सकता है ? यही पर तुमना की आत्मसमकता पड़ती है। पुनः विश्वपण्डित का आत्मोत्थक की प्रतिभा का ही पर्याय है। इति की नामधेय का उद्घाटन इसी से संभव हो पाता है। मैंने इस पुस्तक में इसी दो प्रणालियों का सहारा लिया है।

यही हजारी प्रसाद द्विवेदी न उबना को नाद का पुनरा का क्रिया का और औद्योगिकी को प्रतिक्रिया का प्रतीक माना है। मैंने पुस्तक के एक अध्याय का शीर्षक ही दिया है 'नाद क्रिया और प्रतिक्रिया' शीर्षक के अतिरिक्त इस अध्याय का समस्त विश्वपण्डित मर्याद अपना है मौलिक है और उस द्विवेदी जी से कुछ लमा बना नहीं है। फिर भी मैं इसके लिए आभारपूर्ण द्विवेदी जी का आशीर्वाद हूँ।

पुस्तक-संस्करण के काम में मुझे बराबर मायलपुर विश्वविद्यालय के धन देवी विभाग के यशस्वी प्राध्यापक श्री चन्द्रेश्वर प्रसाद मिश्रा का सहयोग मिलता रहा है। उनका वैयक्तिक विश्वपण्डित और धन्य है। साहित्य की मर्याद पहचानने में उन्हें कोई भूल नहीं होती है। कविताओं में तो उनकी पैठ बहुत गहरी है। मैं उनका बहुत हूँ। प्रबन्ध तुम्हें श्री० श्री रामादण्ड सहान का स्वरु मुझ पर सदा बना रहा है। वे तो मेरे 'गाइड' ही रहे हैं। मिश्रवर श्री लक्ष्मण प्रसाद ठाकुर और प्रसिद्ध व्यक्तित्व सेलक श्री चित्तेश्वर चन्द्र प्रसादी का भी मैं काम बहुत नहीं हूँ। यशस्वी कवि श्री रामसेवक बनुरेदी

शास्त्री जी के स्नेह की क्या चर्चा करें। 'समुक्ति मगहि मग रहिए'। मेरे प्रिय छात्र उत्तम कुमार का एब्यू थी कलानन्द सिंह ने भी पाहुतिपि तैयार करके मेरी बड़ी सहायता की है। मैं इन सब महामुर्खाओं का इशारा हूँ और उन्हें हृदय से बर्णनाय देता हूँ।

किन्तु ब्रानासोक के व्यवस्थापक श्री रामारमण गौस्वामी जी को बर्णनाय न है, तो यह एक सपराय होवा। उनके सहयोग और उरसाह के बिना तो पत्रक पाहुतिपि ही बनो रहती। मेरे उनका हृदय न धागायी हूँ।

बस धन कुछ नहीं।

लक्ष्मणलाल सक्सेना
मन्दरीबा
भाननपुर-२

विजयेश्वर मारायण सिंह
५-१-१२

विषय-सूची

१	भाबबाय का विकास-कर्म	—	१
२	कामाध्याय की कविता	—	२
३	चिन्त्य-योजना	—	३१
४	नाद क्रिया प्रतिक्रिया (उबरी पुरखा घौनीमरी)	—	९६
५	स्वात्मक पक्ष	—	१४
६	काव्यालोचन की समस्या और उबरी	—	१०२
७	उपलब्धि और सीमा	—	११४



प्रमुख कविपत्र पुस्तकों के संक्षिप्त नाम

१	सं० बा० प्र०	संस्कृति के चार अध्याय
2	A propos	A propos to the Lady Chatterly's Lover and other essays.

सहायक पुस्तकों की सूची

१	रैलुका	दिगंबर
२	हंकार	
३	रगवल्ली	
४	इहमीत	
५	कुसुमेव	
६	नील कुसुम	
७	नये सुभाषित	
८	उर्वशी	
९	धर्म भक्तिकथा धीर विज्ञान	
१०	बैलुवन	
११	धर्मनारीद्वार	
१२	संस्कृति के चार अध्याय	
१३	कामायनी	जयसंकर प्रसाद
१४	सात गीत बय	धर्मवीर भारती
१५	धम्मका पुत्र	"
१६	दिग्भूमित राष्ट्र कवि	प्रो० कामेश्वर शर्मा
१७	दिगंबर सृष्टि धीर इष्टि	बाठावन प्रकाशन पाणिपतवाड़
१८	दिगंबर की उर्वशी	डा० रामासकर ठिबारी
१९	रबीन्द्र कविता कानन	मिथिला
२०	सांस्कृतिक भाष्य में छात्र इष्टि	डा० मोपीनाथ कविराज
२१	The Horizon of Marriage	Radha Kama Mukherjee Asia Publishing House
२२	A propos to the Lady Chatterly's Lover and other Essays.	D H. Lawrence, Penguin Series
२३	Lady Chatterly's Lover	D H Lawrence
२४	Selected Letters	Penguin Series.
२५	Marriage and Morals	Allen and Unwin.
२६	Selected Prose	T S Eliot

भावधारा का विकास-क्रम

हिन्दी के कई आलोचकों ने 'उर्बसी' के प्रकाशन को एक आन्तरिक बदला मान लिया है।^१ चाय ही हिन्दी आवाजोत्तर कवि को दिनकर से अधिक स्मृति मिली हो चाय ही इतना गहरा मूल्यांकन भी किया गया है। वही मूल आलोचकों ने 'रसवन्ती' के प्रकाशन के बाद की थी।^२ दिनकर केवल भाषा के कवि कभी नहीं रहे। उनकी सामाजिक चेतना धर्मार्थवाद का पर्याय कभी नहीं रही। लिखकर पदावली रोमांटिक कवि हैं। रोमांटिक कवि को बराबर पर काय्य रचना है—एक बराबर है सामाजिक चेतना का और दूसरा है सौन्दर्य-प्रेम और विज्ञान का। बर्हत्सर्ग और धर्म और सौन्दर्य इस कवि का प्रयाण है। किन्तु हिन्दी के कुछ आलोचकों ने दिनकर की धृष्टि पर टंपी हुई धारणा की बुरों को कृषि और साधारण मान लिया।

१ 'हूकार' 'कुलीन और 'रसवन्ती' के कवि ने विषय तो अपने स्वभाव से बहुत भिन्न गुना किन्तु, 'हूकार' के बहाने उठने कविता ऐसी रच गयी जिसकी तुलना और किसी काव्य से नहीं की जा सकती है।'

—मन्मथनाथ गुप्त नवनीत सितम्बर १९९१।

२ (क) 'हूकार' के बाद 'रसवन्ती' का प्रकाशन ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार किसी घातकबादी का कामे पानी से लौटकर आने के बाद घर बसाया 'या यों कहिये कि 'हाहाकार' के दिनकर ने 'रसवन्ती' में आकर अपने कानों में कसकर जँपती ठूस ली है।'

—प्रो० कामेश्वर शर्मा विमर्शित साप्ताहिक पृष्ठ ४८।

(ख) 'एक बड़े हुए सिपाही की तरह दिनकर कंधे से बन्दूक छटाकर गुर से पानी लेंगे गये हैं, दिनकर का अपराध इतना ही है कि उन्होंने 'रसवन्ती' में अपनी बन्दूक कंधे से उतार दी है।

—वही

सब तो यह है कि दिनकर के साहित्यिक व्यक्तित्व का निर्माण रति और उत्साह के केन्द्र-बिन्दु पर हुआ है। रति और उत्साह के दो उपग्रहों से होकर उनकी कविता-बाण प्रकाशित होती रही है। ये ही दो स्थायी भाव कभी समानांतर चलते हैं, कभी एक दूसरे को मलित करते चलते हैं, कभी एक दूसरे पड़ जाता है और दूसरा प्रबल। किन्तु ये दोनों हमेशा रूप से वर्तमान हैं। 'रेणुका' में रति और उत्साह का समन्वय है। बेनीपुरी ने ठीक ही निष्ठा है कि 'अपराध' बिच पर इन्द्रधनु सेम रहा हो यह रेणुका के दिनकर का परिचय है। 'हुंकार' में उत्साह प्रबल पड़ जाता है, रति कुछ हो जाती है। 'इन्द्रगीत' में रति और उत्साह का गुच्छन है एक धोर पर का आकर्षण है दूसरी धोर कांति की परचाप भी सुनाई पड़ती है। 'रसबन्ती' में कवि भर जीट जाता है। वह नारी के घबरो का रस वासना-तट पर घबीर होकर पीता है। 'सामवेनी' में आकर वह पुनः रतिभाव हीतल रत्न को उल्लेख करने के लिए बिजोह की समिधायें बनाता है। इसी वृत्तबूमि पर 'कुसुमे' की रचना होती है। 'रसमरवी' में भी उत्साह का प्राबुध है किन्तु, ताजगी का प्रभाव। 'रेणुका' के दिनकर से दो बाणों फूटी—'हुंकार' और 'रसबन्ती'। 'हुंकार' का उत्साह 'कुसुमे' में चरम-बिन्दु पर पहुँचता है, 'रसबन्ती' की रति 'उर्बंशी' में पूर्णता पाती है। अतः 'कुसुमे' और 'उर्बंशी' परस्पर विरोधी नहीं बल्कि एक ही नदी के दो किनारे हैं।

दिनकर का रोमांच कभी भी असमय और नहीं भारने सया था। 'हुंकार' और 'रसबन्ती' की कविताएँ समानांतर बहू से लिखी गई थीं। 'रसबन्ती' शीर्षक कविता १९३३ में, मार्च १९३६ में तथा अन्य कविताएँ भी इसी के आसपास लिखी गई थी। 'हुंकार' की रचनाओं का समय भी यही है। यह एक अद्भुत बात है कि किसी रचना के प्रकाशन-काल व तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का येल बैठाया जाता है।

१ दिनकर के दुर्भाग्य से दिनकर का यह रोमांच ठीक ऐसे समय और भारने सय सया है जबकि भारत का राजनीतिक वातावरण घरमठ बिपात बन गया था, जबकि उनकी विषयगा में ही अपने हाथ में तलवार चढापी थी।

मानवता का विकास क्रम

रेणुका

यह तो यह है कि 'रेणुका' और रसवन्ती के कवि द्वारा यदि 'उर्वशी' की रचना नहीं होती तो यह आश्चर्य की बात होती है। 'रेणुका' में यदि एक ओर 'हिमालय' है तो दूसरी ओर प्रेम का सौदा भी। यदि एक ओर 'बागी' पर कविता है तो दूसरी ओर 'कोमल' पर भी। 'रेणुका' में ही दिनकर की रति की प्रथम किरणों की झिलमिलाहट है। सौन्दर्य-प्रेम उनमें प्रारम्भ से ही है। मिथिला में बारू कविता सौन्दर्य-प्रेम से मुक्त है।

(दिनकर) उर मे धन विधे बाण
मुन्दरिया यह कर रही स्नान।
घापीन बारि के बीच सड़ी
या रही मधुर प्रत्येक परी।
X X X
हुसकी रमणियाँ समाती हैं,
जट उमर ही पहराती हैं,
बसमग्न कण्ठ को खोज-प्राप्त
मधुपावनियाँ भँडलाती हैं। १

'उर्वशी' के विकसित चित्तन के अनेक बीज 'रेणुका' में ही मिल जाते हैं। यथा—

जयती में मादकता देखी लेकिन प्रलय तत्व नहीं
आकर्षण में वृष्टि और सुन्दरता में अमरत्व नहीं।
यहाँ प्रेम में मिली विकसता जीवन में परितोष नहीं
बाल-बुबलियों के आसक्ति में पामा संतोष नहीं। २

'उर्वशी' में भी रम्या कहती है—

जहाँ प्रेम जहाँ रासली मूल से लगु-लगु झुलसाता है।
प्रथम प्राप्त में ही जीवन की ज्योति निगम जाता है।

(परवेशी)

बर देता है भूल रूप को पाहक घालियन से,
 स्रमि को प्रवाहीन कर देता ताप-तप्त कुम्भन से
 पतम्भ का उपमान बना देता बाटिका हरी को
 और झमता रहता फिर सुन्दरता की छरी को।^१

‘परदेसी’ से उपरिउद्धृत पंक्तियों में जो कवि ने कहा कि ‘बाल-सुवर्णियों’ के घालिजन में पाया संतोष नहीं उसी वा सीमा बिकास ‘उर्बंशी’ में हुआ है। पुररवा कहता है —

किन्तु रस के पात्र पर ज्यों ही लपाता हूँ धर को
 भूट या हो भूट पीछे ही न जाने
 किस घतल से नाव यह घाटा
 अभी तक भी न समझा ।
 दृष्टि को जो पेय है वह रस का भोजन नहीं है ।
 रूप की आराधना का मार्ग घालिजन नहीं है ।^२

संन्यास का यह स्वर प्रथम भोग की सीमा का घतिक्रमण कर प्राग्
 बढ़ने की यह सातसा ‘परदेसी’ कविता में ही मुखर है—

‘मैं न हूँमा इस घुलन पर जीवन-वीर्य प्रेम पैदाकर,
 धातु, सड़ाकर है बल मुझको जहाँ कहीं हत जन से बाहर।’^३

देह की सीमा के घतिक्रमण की यही जावना—‘उर्बंशी’ में पुररवा में प्रकट होती है।

ये किरणें ये बुल किन्तु, घनितम सोपान नहीं हैं
 उठना होना बहुत दूर ऊपर इनके चारों पर
 स्वात, ऊर्ध्व उस घम्वर तक जिसकी ऊँचाई पर से
 यह मुक्तिका-विहार विम्व-किरणों का हीन सवेरा।^४

किन्तु मौलिकता का विज्ञापन करने वाले एक व्यक्तित्व ही ‘पुष्प
 पंजी’ प्रामोचक के ‘रेणुका’ की उपरिउद्धृत पंक्तियों को पलायनवादी कहकर
 मौलिकता का पक्षबा दिया था।

१ उर्बंशी २७।

२ वही ४९।

३ रेणुका ८२।

४ उर्बंशी ११।

रसवन्ती

‘रसवन्ती’ उर्बंशी की पूर्व पीठिका है। ‘उर्बंशी’ के सभी प्रमुख भाव सभी विचार बीज रूप में ‘रसवन्ती’ में मिलते हैं। दिनकर मातृत्व को मारीत्व का अरम उत्कृष्ट मानते हैं। दिनकर इसीलिए धातुनिकृष्टा की मर्त्यता करते हैं जो केवल देह की मूल मिटाना चाहती है। ‘रसवन्ती’ में धातुनिका के भीतर बसवन्ती एक धीर नारी को देखते हैं जो कि ‘म्हानमुखी’ है।

मुख्य व्यक्तिकृतन का मुखा, सो वह निखने वाली
साठ पत्थरों के नीचे है बही सभी तक तुम में।
तुम जितना विभव करती वह धातुन होती उतनी
जितना व्यर्थ बनाव भीए उतनी होती जाती है।
मृदा रमस के कोलाहल ने प्राण विकस है उसके
मारहीन कुम्भ से उसका दम पुष्टा जाता है।
कौतुक हास-विहास रमस की धाम-सजीव प्रतिमाओं।
देखो निज में झोक करी उस म्हान-मुखी नारी को।^१

—नारी

धाम की धातुनिकाएँ कमकी की छावनी धीर कोमलता बरकरार
रखने के लिए कृत्रिम बन्धत्व को स्वीकारती हैं। दिनकर मानते हैं कि यह
नारी का वास्तविक रूप नहीं है—

‘काम ! समझती अगम निराधतुर कृत्रिम बन्ध्याएँ,
पुन-कामना इच्छा है अपने का ही पाने की।’^२

देह का कुछ ही सब कुछ नहीं जेब में तो तन का धतिक्रमण भी हा
जाता है। ‘उर्बंशी’ की भूमिका में नर-नारी के द्विविध व्यक्तित्व का बड़ा ही
व्यस्त विरामयण करते हुए उभरने लगा है —

‘नारी नर का छूकर लूस नहीं होती न नर नारी के धामिकून में संतोष
मानता है। कोई धक्ति है या नारी को नर धीर नर को नारी से धमप नहीं

१ रसवन्ती ४७।

२ वही ५१।

एक ऐसी और जब वे मिल जाते हैं। तब भी 'उनके भीतर किसी ऐसी तृप्ति का संचार करती है जिसकी तृप्ति शरीर के बराबर पर अनुपलब्ध है।

'नारी के भीतर एक और नारी है जो अयोधर और इन्द्रिमायी है। इस नारी का संचार पुरुष तब पाता है जब शरीर की बारा उछालते उछालते उसे मन के समुद्र में केंक देती है, जब वैहिक-चेतना से परे, वह प्रेम की पूर्ण समाधि में पहुँचकर निस्संद हो जाता है और पुरुष के भीतर भी एक और पुरुष है, जो शरीर के बराबर पर नहीं रहता जिसके मिलन की आकुलता में नारी रंग-रंज के पार पहुँचना चाहती है। सब तो यह है कि नारी के भीतर जो एक और नारी है उसी के प्राण रसबन्ती में 'भृपा रस के कोमाहन' से विकल हो गये वे और वह 'मानमुखी' की। उर्बंछी की यह द्विविध व्यक्तित्व वाली नारी का नाम 'रसबन्ती' में ही हो चुका था 'उर्बंछी' से आकर वह पुनर्जीव बन गई है।

उस नारी की जो मात्र शरीर के बराबर पर उपलब्ध है अर्त्सना करते हुए दिनकर वस्तुतः मात्र वैहिक आसक्ति की ही अर्त्सना करते हैं। उर्बंछी में यही बीच विद्याल बटवुस बन गया है जिसे समस्त या सही आलोचकों ने और स्वयं कवि ने भी कामाख्यात्म की कविता कहा है। उर्बंछी कहती है—

पर क्या बातें ? क्या कहें ?

आति यह देख भाव ! १

पुनरावा भृपा रस के तिमिर-गुह से निकलने को बैचन है। वह कहता है—

'मैं अनुपम कामना-आयु मेरे भीतर बहती है
कभी मन्त्रगति से प्राणों में मिहरन-पुलक बनाकर
कभी आँखों को मरोड़ अंका की दारण गति से,
मन में बनाकर तिमिराच्छन्न हृदय को।

किन्तु, मानता है तब के आँखों में रो ?
में भीषक फिर १ १९

यह स्पष्ट है कि 'रसबन्धी' बाता दृष्टिकोण ही उर्वची में स्वल्प
धीरे धुल्ट होकर उमरा है।
रसबन्धी में ही दिनकर ने नारीत्व का चरम उत्कर्ष मातृत्व में माना
है।

भञ्जन के सुकुमार पूस को वह यों बख रही है,
फूट रही हो बार धुल की ही ज्यों गरे नयन से।^१

धनबा

सरमाती कैठी थी उत्पुङ्ग बधू प्रसूति-सखन में
निकली है लेकर पुनीठ संजीर हृदय माता का।
जब से उमरवस प्रेम उबस धाँधल में फूट पड़ा है,
एक सरस संतोष असकता है उसके आनन पर।^२
'उर्वची' में नारी की चरम उपलब्धि पर प्रकाश डालते हुए पुनः यही
बात दिनकर ने कही है—

'पसती है हिमखिला सत्य है पठन यह की खोकर
पर हो जाती वह असीम कितनी पमत्स्विनी होकर।'^३
दिनकर ने 'रसबन्धी' में युवती नारी जब माँ बनती है, तब उसके
आनन पर असकने वाले 'सरस संतोष' की चर्चा की है। बासना की भट्टी
में जलने वाली नारी माता बनने पर धनित-बलि हो जाती है। इस धनित
बलि नारी का आत्मतोष संकामक होता है। 'रसबन्धी' में उस सरस संतोष
का ही विकास उर्वची में इस संकामक प्रभाव उत्पन्न करने वाली धनित
बलि नारी के रूप में हुआ है।

मुना जननि को देख धाँत्रि मन में कैसी जगती है।
रूपमती भी सखी। मुझे तो बही प्रिया लगती है,
जो मोरी में पड़े धीर-मुक्त धिपु को सुमा रही हो।
धनबा कही प्रसन्न पुन का पसना सुमा रही हो।^४

- १ रसबन्धी ५०।
- २ यही ५०।
- ३ उर्वची १८।
- ४ यही १८।

रहने केरी और जब वे मिल जाते हैं, तब भी 'उनके भीतर किसी ऐसी तृप्ता का संसार करती है जिसकी तृप्ति शरीर के बराबर पर अनुपलब्ध है।

'नारी के भीतर एक और नारी है जो अघोर और इन्ध्रियातीत है। इस नारी का संसार पुरुष तब पाता है जब शरीर की बाह्य उन्मादों उन्मादों उसे मन के समुद्र में फेंक देती है, जब वैहिक-मैतना से परे वह प्रेम की दुर्गम समाधि में पहुँचकर निस्वय हो जाता है और पुरुष के भीतर भी एक और पुरुष है, जो शरीर के बराबर पर नहीं रहता जिसके मिलन की आकृतिता में नारी घंग-सता के पार पहुँचाना चाहती है। सब तो यह है कि नारी के भीतर जो एक और नारी है उसी के प्राण रखवन्ती में 'मृपा रमस के कोमाइल' से निकल हो गये के और वह 'मानमुर्खी' भी। 'उर्बरी' की यह द्विविध व्यक्तित्व वाली नारी का जन्म 'रखवन्ती' में ही हो चुका था 'उर्बरी' में आकर वह दुबती बन गई है।

उस नारी की, जो मात्र शरीर के बराबर पर उपलब्ध है मर्त्तना करते हुए दिनकर बस्तुतः मात्र वैहिक मासक्ति की ही मर्त्तना करते हैं। उर्बरी में यही बीच विद्याम बटवुल बन गया है जिसे मल्ल या सही पासोचकों ने और स्वयं कवि ने भी कानाधारम की कविता कहा है। उर्बरी कहती है—

‘पर क्या बोलू ? क्या कहूँ ?

आति यह है माय ।’

पुनरुत्पन्न मृपा-रमस के तिमिर-झूह से निकलन को बेचैन है। वह कहता है—

मैं मनुष्य कामना-बापु मेरे भीतर बहती है
कभी सम्भवति से प्राणों से निहरन-मुसक बनाकर
कभी जानियों को नरोड़ बना की बाण्ड गति से,
मन का बीपक बुझ बनाकर तिमिराब्धय हृदय को ।
किन्तु, पुरुष क्या कभी जानता है तम के वासन को ?
फिर होता समय तिमिर में बीपक फिर जमते हैं ।^१

अब यह स्पष्ट है कि 'रसवन्ती' नामा दृष्टिकोण ही उर्बन्धी में स्वस्थ और पुष्ट होकर समरा है।

रसवन्ती में ही दिनकर ने नारीत्व का चरम उत्कर्ष मातृत्व में माना है।

अबस के सुकुमार पून को वह यों देख रही है,
पूट रही हो बार बार कूब की ही क्यों भरे नयन स।^१

अबका

सरमाती कैठी भी उत्सुक बधू प्रभूति-सदन में
निकसी है लेकर पुनीत मभीर हृदय माता का।
जब सं उग्गबल प्रेम जबस धीबस में पूट पड़ा है,
एक सरल संतोष झलकता है उसके ध्यान पर।^२
'उर्बन्धी' में नारी की चरम उपलब्धि पर प्रकाश डालते हुए पुनः यही
बात दिनकर ने कही है—

'यसती है हिमधिसा सरय है गठन देह की जोकर
पर हो जाती वह मसीम क्रिपनी पमस्विनी होकर।'^३
दिनकर ने 'रसवन्ती' में मुखली नारी 'जब माँ बनती है' तब उसके
ध्यान पर झलकने वाले 'सरल संतोष' की चर्चा की है। बासना की मट्टी
में बसने वाली नारी माता बनने पर समित-बलि हो जाती है। इस समित
बलि नारी का धारमतोष सजामक होता है। 'रसवन्ती' में तब 'सरल संतोष'
का ही विकास उर्बन्धी में इस संजामक प्रभाव उत्पन्न करने वाली समित-
बलि नारी के रूप में हुआ है।

'बुका जमनि को देख धाति मन में कैसी जगती है।
बपमती भी सली। मुझ लो बही बिया लगती है,
जो मोदी में पड़े भीर-मुझ पिण्ड को मुना रही हो।'^४
अबका खड़ी प्रसन्न पुन का पलना मुना रही हो।^५

- १ रसवन्ती ५०।
- २ वही ५०।
- ३ उर्बन्धी १६।
- ४ वही १६।

मारी के प्रति बिगड़कर का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही हमानी रहा है। हमानी दृष्टिकोण यह मानता है कि मारी जिया से अधिक प्रेरणा है। वह पुरुष में उस्ताह भरती है। जगत के संघर्ष में उसका योग प्रत्यक्ष नहीं है। मारी चाँदनी है, कमल की नास है, रावणम की नहीं सी बूँद है। 'रसबन्ती' ने कवि ने सिखा था—

‘बाद है तुम तो सुषा की धार
 बाद है, तुम चाँदनी सुकुमार
 धार है, तुम तो कमल की नास
 मंजरी के पास बानी नर्म कोपल साज ।^१

मारी पुरुष को प्रेरणा देती है उसके पीछे को प्रतीत करती है—

‘कर्मियों ने देखा जब तुम्हें टूटने लगे धनु के बाप ।
 बेचने लगा सत्य गाँधीय पुरुष के सिमाने सपे प्रताप ।

× × ×

एक इगित पर दीड़े सूर कमल-मृग पर होकर हठ जान ।
 हुई आपियों के तप का मोल तुम्हारी एक मधुर मुस्कान ।^२

‘उर्वशी’ के पञ्चम अंक में मारी पुनः इसी रूप में चित्रित हुई है—

इतिहासों की मकल इष्टि केन्द्रित सब एक क्रिया पर,
 किन्तु, मारियाँ क्रिया नहीं प्रेरणा प्रीति कहला हैं
 उद्गमस्वनी बहस्य जहाँ से सभी कर्म उठते हैं,
 पर, सब भी हम विभ इतिहासों की बाध से ।
 कीज नहीं जानता, पुरुष जब बहता कभी सगर में
 किस मुख का कर प्यास बाद कर कितने स्निग्ध हों को
 नाति छोड़ वह पुनः नये पुसकों से भर जाता है ?^३

दिगकर मानते हैं कि मारी एक नायक कल्पना है। यथाप जगत की
 छरीर-मुन्दरी तो उस कल्पना-किष्कीरी की एक भजनक भर दिव्यायी है। हम

१ रसबन्ती १४ ।

२ वही २८ ।

३ उर्वशी १६३ ।

सुन्दरी के रूप के समीप प्रभाव का बलन 'रसवन्ती' में वैसा है। दिनकर कहते हैं।

‘हृदि तुमने फरी जिन धोर
गई बिष कमल-पंक्ति धाम्ना
हिम मानव के कर से अस्त
विचित्र किए गए अनुप जो बास।
हो गया अन्धिये हृषो को दख
सिंह बिजयी बर्बर नाचार।
रूप के एक लम्पु में नारि
गया बंध गत गमन कुमार।^१

‘उर्वशी’ में इस कल्पना-किसोरी के समीप प्रभाव का चित्रण अनेक स्थानों पर है।

(१) बिपवर के फल पर समूह बलि
जड़त अदम्य बर्बर बल पर अपोकुध
बीण सुलाल तार।^२

(२) ‘मैं’ लम्पुछ नत हो रहते यजराज मत्त
केसरी धारज धातुन नून निज हिम माव
दुह-नृप समान-निबिध अहिम बनकर बीठे।
केटी स्मिति को बेस बलिष्ठ विस्मिन्न किमोर
धूरना निमिष ओले घवाक रह जाते हैं
रसप हो जाता स्वयमेव चित्रिनी का कसाव
संसत करो से अनुपवाण गिर जाते हैं।^३

(३) ‘पर न जाने बात क्या है ?

इन्द्र का आमुष पुरुष जो भेज सकता है
सिंह से बाई बिजाकर बेस सकता है
पूत के भावे बड़ी प्रसन्नता बल जाता
रात्रि के रहते हुए बिरपाय बल जाता

१ रसवन्ती २७।

२ उर्वशी २६।

३ वही २६।

विद्य हो जाता सहज बकिम नयन के बाण से
पीत सेती बपसी नारी उस मुस्कान से ।^१

‘उर्बंशी का ‘रसबन्ती’ से यह साम्य कहीं-कहीं तो अत्यन्त ही स्पष्ट

३—

हृदय निज चरित्राओं ने नीर
बहा भी पथ की उज्ज्वल धार ।
धारती करने को सुकुमारि
हम्र को नर ने लिया उठार ।
एक हँसित पर लौंके सूर
कमक-मृग पर होकर हृत्त ज्ञान
हुई ज्ञपियों के तप का मोल
गुम्हारी एक मञ्जुर मुस्कान ।^२

उर्बंशी के द्वितीय अंक में मरनिका कहती है—

तपानिष्ठ नर का संचित तप और ज्ञान-ज्ञानी का
मननर्पण का मान गर्व गर्वसि अधिमानी का
सब बड़ जाते भेंट सहज ही प्रमथा के चरणों पर
कुच भी बचा नहीं पाता नारी से उन्नतिष्ठ नर ।^३

नर-नारी के प्रेम के सम्बन्ध में दिनकर का वर्णन उद्देव्य देह की सीमा का प्रतिफल ही है । लेकिन ऐहिक सुख को दिनकर ने कहीं भी त्याग्य नहीं माना है । दिनकर के काव्य में ऐहिक कामसा क थत-थत विश्व है । रसबा के स्पर्श से उत्पन्न मुक्त का मोहक वर्णन है । नारी को देखकर नर के हृदय में एक फुरफुरी-सी जपती है । नारी के सम्पर्क से ही पुरुष के उपवेदन में मबराने वाली भावनाएँ सतह पर उठकर जमने लगती हैं । हरियाली को देखते ही अपने ऊपर का उदासीपन काटने पड़ता है—

१ उर्बंशी ५६४ ।

२. रसबन्ती ९८ ।

३ उर्बंशी ३४ ।

‘तुम नदी फिरण-सी नहीं मुझे सहसा सम्राज का शासक हुआ
जिस दिन दत्ता यह हरित शीत अपने ऊपर का शासक हुआ ।’

दिनकर दह की भूल को नगण्य नहीं मानते । ‘रसबन्दी’ की ‘मानवर्दी’
कविता में अपनी कटी हुई प्रियतमा को मनाते हुए कवि कहता है—

‘जीवन के दिन बार, सबदि उससे भी दल्प जवानी की ।
उस पर भी कितनी छोटी निधि होती प्रलय-कहानी की ?
हम दोनों की प्रथम रात यह धाव करो मत मान प्रिये ।
मिट न सकेगी कसक कभी यदि यों ही हुआ बिहान प्रिये ।’^१

धनि के ममता को ‘यों ही’ हुआ बिहान प्रिये की व्यवसाय बतलाना
अनावश्यक है । दिनकर गर और नारी के सार्वत्रिक मिलन का ‘उर्वशी’ में
भी पाप नहीं मानते हैं । उर्वशी कहनी है—

‘यह विद्युत्प्रभ स्पष्ट विमिर है पाकर जिसे त्वचा की
नौर दूट जाती रामों में दीपक बल चकते हैं ?
बहु भाविजन व्यवहार है, जिसमें बंध जाने पर
हम प्रकाश के महासिन्धु में उतराने लपते हैं ?
धीर कहोगे विमिर-भूषण उस कुम्भ का भी जिससे
बढ़ता की प्रणियाँ निमित्त धन-मन की लुप्त जाती हैं ?’^२

इस काम भूल के वर्णन में दिनकर ‘उर्वशी’ में अपने प्रदर्प पर है—

‘वसन्त पर इसी भाँति मेरा कपोल खूने दो ।
बसे रहा बस इसी भाँति उर-पीड़क आलियन में
धीर बताते खो धमर पुट की कटोर कुम्भ से
किन्तु माह ! यों नहीं, तनिक तो निमित्त करो बाँहों को
निपेक्षित मत करो यद्यपि इस मधु निपेक्षण में भी
ममोत्पन्न है भाँति धीर मानस एक दास्य है ।’

१ रसबन्दी ३३ ।

२ रसबन्दी ४३ ।

३ उर्वशी ४० ।

४ यही ६३ ।

‘सर्वशी’ में दिनकर न जिस विश्व-प्रिया की कल्पना की है वह कल्पना भी ‘रसमन्ती’ में ही मिल जाती है। ‘पुरुष-प्रिया’ कविता में दिनकर लिखा है—

सुन्दर थी तुम जब पुरुष बना
सुन्दर सब थी जब कल्प गया
जा रहा सकल भय व्यथ नहीं
मिलता घागे कुछ ज्ञान गया।
जब-जब फिर घाटा पुरुष पान्त
तब तुम कहती रस मम्म ‘प्रिया’।
मिलती न उसे फिर बात नवी
भुज से कटते दो बर ‘प्रिया’।^१

‘सर्वशी’ में पुनरुक्त इसी विश्व-प्रिया को कह रहा है—

‘जहाँ-जहाँ तुम किसी स्मृति में ही मलयामिष बनकर
मुझ्में केरता आया है प्राकृत अपनी बाहों से
जितके भी सामन किया कथित तुमने सबकी को
लमता है मैं ही मरैब यह तुम्हें रसिक कुरूप बा।’^२

स्वयं सर्वशी कहती है—

‘मैं भूत अभिप्राय, वर्तमान की हविष आया से विमुक्त
मैं विश्व-प्रिया।’^३

यह विश्व-प्रिया विरसतन नारी के मित्रा है ही नया जो हर पुरुष के हृदय में निवास करती है।

द्वन्द्वगीत

‘द्वन्द्वगीत’ का उद्भव साधुनिष्ठ धरातल पर ही प्रतिफलित हुआ है। यहीं से दिनकर ने जिस साधुनिक कविता का प्रगमन प्रारम्भ किया था उसकी चरम परिणति ध्वनित ‘सर्वशी’ में हुई है। जहाँ दिनकर रोमांटिक कवि है

१ रसमन्ती १०।

२ सर्वशी १०१।

३ सर्वशी १०१।

इसलिए ससार को न पूछ नहीं मानते हैं। एक अज्ञात और प्रतिबर्धनीय सत्ता के प्रति विज्ञासा और कुतूहल का भाव उनमें प्राग्भूत से ही है। रोमांटिक कवि अपने घास-पास के सौन्दर्य को क्षणभंगुर मानता है, फिर भी उसे हेय नहीं समझता है। वह मानता है कि प्रत्येक सुन्दर वस्तु क्षण-भंगुर ही होती है, वहाँ बिखरा है वहाँ सौन्दर्य नहीं है। 'इन्द्रमीत' में बिनकर लिखते हैं—

‘मैं रोता था हाथ बिखर
हिमकण की कण्ठ कहानी है
सुन्दरता जलती मरबट में
मिटती यहाँ जवानी है
पर बोना कोई कि जरा
मोती की ओर निहारो तो
बो बिन ही हो सही किन्तु,
बेसो कैसा यह पानी है।’^१

‘उर्वशी’ में भी बिनकर मानते हैं कि वहाँ सौन्दर्य होता है, वहाँ नख रत्ना भी निवास करती है। इसकी महिमा इस बात में है कि इसका स्वाद अप्रतिम होता है। मेनका कहती है—

‘पर सोचो तो मरथ मनुज कितना मधु-रस पीता है।
बो बिन ही हो पर कैसे वह बचक-बचक जीता है।
इन जलजन्तु बेबों के भावे मलिन धान्ति छाटी है
क्षण भर भी उत्पद तरंग पर बिखरा बसिहारी है।’^२

स्वाद भले ही सौन्दर्य का अद्भुत होता है, पर उसकी नखबरता से हल्कार कैसे किया जा सकता है! प्रत्येक वस्तु में पतझड़ छिपा होता है। ‘इन्द्रमीत’ में (उससे भी पहले ‘रेणुका’ की परबेसी क्षीर्णक कविता में) कवि ने इस सत्य का खालात्कार किया है—

‘मो देखा चाँदनी एक दिन
राज धर्मा पर खोड़ गई

१ इन्द्रमीत २।

२ उर्वशी ११।

खिर्बा रोकता रहा ताब
 कोयल बग से मुह मोड़ गई
 घोर घाव क्याही क्यों भूनी
 भरे बघा कितने बेला
 गलवाही डाले मुखरता
 कास सग किम घोर गई ।^१

रूप का बाक बिज्र अणिक हाता है । रूप की आतस्मिनि जब मुख जाती है, तो केवल रेत सेप रहती है । मुगनयनी की चरम वास्तविकता का सूत्र कोटर ही है कुमुम के समान मुकुलित वास में डमरी हुई अस्ति प्रवृत्त है, उरोजों की उठान स्वामी नहीं है सब गष्ट होते हैं सब मुरझा जाते हैं—

बो कोटर [को छिपा रही
 मक्याली धीरे सात सखी
 अस्ति-सन्तु पर ही तो है
 ये बिजे कुमुम से गास सखी ।
 और कुर्बों के कमल । भ्रंते
 ये ता जीवन से पहले
 कुछ बोझ सा भौस प्राण का
 छिपा रहा कंकाल सखी ।^२

‘उर्बशी में भी रूप की बची हुई रेत का कबि को इतना ही मानिक बोध है । मुकम्पा चतुर्ध अंक में बिज्रसेवा ने कहती है—

‘पर ये बिज्र अखिर जीहें के अनुप तिकुड़ बापेमे
 छूटेनी अकलिमा कपीली के प्रकृत फूसों की ।
 और बघ पर जो तरंग जीवन की सहाराती है,
 पीछे समतल छोड़ धरा में जाकर लो जाएगी ।’

शानी रूप की प्रत्येक कविता की यति भग मृष्टि की स्वाभाविक प्रश्रिया

है ।

१ इन्द्रमीत, १० ।

२ वही, १९ ।

३ उर्बशी १ ८ ।

दिनकर नारी-देह को वासना का कीलम नहीं समझते हैं। नारी रूप के प्रत्येक अवयव में वे प्रकृति के किसी अवयव का ही संश्लेष निहारते हैं। रूप-विचित्र में वे ऐसे विशेषणों का प्रयोग करते हैं, जो एकत्र नित्यरूप हैं। विशेषणों की पवित्रता के प्रति वे सज्ज हैं। 'वृन्मगीत' में ही वे लिखते हैं—

ये नवनीत कपोल मुखावों
की जिनमें नारी खोई
वह नलिनी-सी धाँस वही
कामल बन मधु प्रतिनि सीई
कौपल से धारों को रमकर
कम बसन्त कर बग्य हुआ
किस बिछी ने तनु की वह
नवनिमा धाँसुओं से बोई ?^१

यहाँ कपोल नवनीत बैसा है। किसनी स्वच्छता है। नलिनी-सी धाँस में कामल बन मधु प्रतिनि का सागा कितना नित्यरूप है। कौपल से रंगा गया धार पवित्रता का प्रकर्ष है। पुनः देह की समस्त बसन्तता धाँसुओं से झुमकर निखरी है। इसी प्रकार 'उर्बची' के रूप-विचित्र में भी कवि ऐसे उपमानों का प्रयोग करता है जिनसे वासना की बोझी भी बू नहीं जाती है—

ये सोचन जो किसी अग्न्य जग के जग के दर्पण हैं,
ये कपोल जिनकी कृति में खँखरी किरण जगा की
ये किसलक से धार, नाचता जिनपर स्वयं धवन है,
रोती है कामना वही पीड़ा पुकार करती है।
ये कृतिर्वा जिनमें लज्जुओं के धनुषिन्दु भरते हैं,
ये बाँहे विष्णु के प्रकाश की वो मनीन किरणों-सी ॥^२

यह सम्पूर्ण रूप विचित्र नित्यरूप है। उर्बची की धाँस किसी अग्न्य जग के जग का दर्पण है। अग्न्य जग ही कुतूहल को जग्य देने के लिए पर्याप्त है। फिर उसका जग कैसा होया ? जग भी नहीं, यह सस जग को पवित्राधिक करने वाला दर्पण है। यह सृष्ट्यता ही पवित्रता को जग्य देती है। कपोल पर

१ वृन्मगीत २१ ।

२ उर्बची २१ ।

भिजा रोकता रहा भाव
कोयल बन से मुँह मोड़ गई
और भाव नगरी क्यों मूनी
भरे बता जिसने ऐसा
गसबाही बासे सुनरता
काल संव किम धोर गई ।^१

रूप का बाक बिज लणिक होता है। रूप की ओतस्विनि जब सूख जाती है तो केवल रेत छेप रहती है। मृगमयी की चरम वास्तविकता को घूम्य कोटर ही है कुसुम के समान मुकुलित बास में डूबी हुई अस्मि प्रखर है उरोवों की उठान स्थायी नहीं है सब गढ़ होते हैं सब मुरम्भ जाते हैं—

‘हो कोटर को छिपा रही
मगमाती अर्धे नास सखी
अस्मि-तन्तु पर ही तो है
ये बिले कुसुम से गाल सखी ।
और कुर्बों के कमल ! भड़गे
ये तो जीवन से पहले
कुछ थोड़ा सा मांस प्राण का
छिपा रहा कंकाल सखी ।’^२

‘उर्वशी में भी रूप की यही हुई रेत का कबि को बतना ही धार्मिक बोध है। मुकुन्दा वसुध धंक में बिजलेका से कहती है—

‘पर ये बिज अगिर भीहूँ के वसुध सिक्कड़ बायेगे
छूटेबी धरणिमा कपीलों के प्रपुल्ल पूलों की ।
और बस पर जो तरंग जीवन की लहराती है,
पीछ समतल छोड़ जरा में जाकर धो जाएगी ।’^३

मागी रूप की प्रत्येक कविता की प्रति मंग नृष्टि की स्वामाधिक प्रशिया है ।

१ इन्द्रपीठ, १० ।

२ वही, २६ ।

३ उर्वशी १०८ ।

दिनकर नारी-देह को बासना का कीतन नहीं समझते हैं। नारी-रूप के प्रत्येक अवयव में वे प्रकृति के किसी अवयव का ही मौल्यम निहारते हैं। रूप विचरल में वे एम्ब विशेषणों का प्रयास करते हैं या एकदम निष्कलुप हैं। विशेषणों की पवित्रता ने प्रति वे सचेष्ट हैं। 'द्रुमवीत' में ही वे सिद्धते हैं—

ये नखनीत कपोल दुसावों
की जिनमें मामी कोई
यह नमिनी-सी धौल जहाँ
काबल बन मधु धमिनि सोई
कोपल से धबरी को रंगकर
कब बसल कर जम्ब हुआ
किन्तु बिछी न तनु की यह
धबलिमा धौपुधों से बोई ?^१

यही कपोल नखनीत कैसा है। किन्तुनी स्वच्छता है। नमिनी-सी धौल में काबल बन मधु धमिनी का सोना कितना निष्कलुप है। कोपल से रंगा गया धबर पवित्रता का प्रकर्ष है। पुनः देह की समग्र धबलता धौपुधों से धुलकर निखरी है। इसी प्रकार 'उबरी' के रूप-विचरल में भी कवि ऐसे उपमानों का प्रयोग करता है, जिनसे बासना की थोड़ी भी धूल नहीं जाती है—

ये सोचन जो किसी अम्ब जय के नम क बरंए है,
ये कपोल जिनकी दृष्टि में ठहरती किरलु जया की
ये किसलय से धबर, माखता जिनपर स्पर्श मरन है,
रोटी है नामना जहाँ पीड़ा पुकार करती है।
ये धुनियाँ जिनमें जड़ों के धमूधमूध भरते हैं,
ये बाँहें बिबु के प्रकाश की धो नखीन किरलुओं-नी ॥^२

यह सम्पूर्ण रूप विचरल निष्कलुप है। उबरी की धौल किसी अम्ब जय के नम का रूप है। अम्ब जय ही कुलहल को अम्ब देने के लिए पर्याप्त है। फिर उबका नम कैसा होया ? नम भी नहीं यह उस नम का प्रतिध्यायित करने बासा रूप है। यह सूक्ष्मता ही पवित्रता को अम्ब देती है। कपाल पर

उपा की क्षुति का तैरना कितना पावन है। घबर किसलय की तरह है।
 गीर, ये बहिन, बिन्दु की दो नवीन किरणों की तरह हैं। कहीं भी वासना
 के कण का हल्का भी संकेत नहीं मिलता है। सब कुछ निष्कलुष सब कुछ
 पवित्र। गारी-रूप के बिजल में विशेषणों की इन पवित्रता ने भी कामा
 ध्यात्म की महिमा को व्योमित किया है। यों दिनकर ने यह कला छाया
 बाधियों से सीखी है।

प्रत्येक रोमांटिक कवि की तरह दिनकर भी यह मानते हैं कि सौन्दर्य
 क्लान्ति का मिटाने का साधन है। जीवन के भय-प्रवेश में जलते जलते जब
 पथिक बक जाता है, तब सौन्दर्य सुधा की तरह संजीवनी प्रदान करता है।
 जब तक जीवन में क्लान्ति है तब तक सौन्दर्य की महिमा अक्षुण्ण है। रूप
 प्राणों में नई हरिबासी भर देता है। यानी रूप एक साधन है। वह साम्य
 नहीं है। यह जीवन हमारी यात्रा का एक पड़ाव है। हमारी संजिम बूझती
 है। हमें घट्यन्त दूर बेश जाना है। किन्तु परवेश की पट्टी पर पथिक को
 क्लान्ति मिटाने का साधन तो चाहिए। यही काय रूप का है। यथा—

रति मनङ्ग शासित बहु बरणी
 ठहर पथिक मधु रस पीसे
 इन फूलों की छाँह बुझा से
 करके झुलक घबर पीसे
 धाज मुमन मन्त्रप में सोकर
 परवेशी निब धाति निरा
 बरण बके हूँति सेने पथ
 बड़े अगम ऊँचे टीसे ।^१

पर परवेश में परवेशी की समता बढ़ जाती है। जैसे दूर बेश जाना तो
 है फिर भी यह मुन भोगने वह ठहर जाता है। अभिप्य की कीन ऐक धावा
 है ? शणिक किन्तु मधुमय वर्तमान उपमोष्य है। दिनकर संमृति की वास्त
 बिकता को समझते हैं, पर, उसकी मोहकता से भागने में उन्हें बसेय होता है।
 अनुप्य की विपमता का वह मार्मिक बिजल है—

‘यानी हूँ धति दूर देश का
 पथ भर यही ठहर जाऊँ

बका हुआ है सुन्दरता के
साथ बैठ मन बहुलाऊँ
एक बूँ बम धीरे हाथ रे
ममता छोड़ चर्चु कैये
दूर देस जाना है सक्रिय
यह मुख रोज कहाँ पाऊँ।^१

‘उर्वशी’ में भी नारी रूप के सम्बन्ध में दिनकर का दृष्टिकोण यही है।
दूर देस जाने जाने पथिक की कुछ दूर के लिए नारी के साक्षिभ्य से शांति
मिलती है। इससे पुरुष की क्षाम्ति पुन जाती है—

‘धीरे बल के कुमुद-कुच सुरमित विद्याम नवन ये
जहाँ मृत्यु के पथिक ठहरकर शान्ति दूर करते हैं।^२
ये मृत्यु के पथिक दूर देस के यात्री हैं। पुनरुत्था यही बात कहता है—

‘यत किसी भी नाति माप अपनी सीमा सपित कर
प्रमत्त स्व उन दूर देस में हम सब को जाना है,
जहाँ न उठते प्रेम न कोई रंका ही जपती है।^३

यह दूर देस दिनकर का अपना देस है। इस ‘प्रवासी’ को इस मृत्यु
के पथिक को अपना देस का संवेन तो जाता ही रहता है।^४

‘इन्द्रपीठ’ से ‘उर्वशी’ का यह साम्य केवल भाव धीरे विचारों का नहीं
है, अपितु, बल्कि ने कुछ बिम्ब भी वहीं से उठा लिए हैं। यथा उर्वशी की
प्रथम पंक्ति ‘ऊपर है चन्द्रमा, इन्द्रपीठ का निर्मल भवन में—यह बिम्ब
‘इन्द्रपीठ’ से ही यहाँ आया है। इन्द्रपीठ का चन्द्र दिनकर को बहुत प्रिय है।
यह कदाचित् व्यक्तिगत विमलक्षणता है। क्योंकि इन्द्रपीठ के चन्द्र की हमारे
साहित्य में कोई महिमा नहीं वतमायी गयी है। या, हो सकता है कि दिनकर
बहिष्कार सौन्दर्य के लिए इसे उपयुक्त समझते हैं। जो ही ‘इन्द्रपीठ’ में ही

१ इन्द्रपीठ २४।

२ उर्वशी २१।

३ उर्वशी २१।

४ रमबन्दी की ‘प्रवासी’ शीपक कविता।

उन्होंने लिखा था—‘बार-बार छाछी-बन्ध की फिरलों में तू मुसकई । उसी प्रकार उर्बसी के प्रथम धनुष्के (पद) में ही एक छुसछ बिम्ब ‘नील-बारि’ का प्रयोग है—‘नील-बारि को फोड़ व्योमि के बीच निकल पाये हों । इस बिम्ब का भी पहला प्रयोग दिनकर ने ‘हनुगीत’ में ही किया था—‘नील-बारि को धरण करो चरणों का राम बहामो तो । कहना प होगा कि वह नीला रंग हिन्दी कवियों को बहुत प्रिय रहा है । मुरारि इससे रसिक प्रेमी थे—‘देखो युवति वृक्ष में लड़ी नील-वसन तन दोरी । उसी प्रकार जीवन और प्रेम के कवि प्रसाद भी इसकी महिमा से प्रभावित हैं—

‘नील परिवार बीच सुकुमार
 कुल रहा मृदुल अवकुला पंथ
 बिना हो ज्यों बिजली का फूल
 मेघ-वन बीच गुलाबी रस ।^१

कलर-कन्ट्रास्ट (Colour-Contrast) के दो सब अच्छे उदाहरण हैं । यानी न केवल ‘हनुगीत’ से उर्बसी में बिचार साम्य ही है प्रत्युत उनके कई प्रभावशाली बिम्ब भी साकर ‘उर्बसी’ में और व्योमिष्ठ हो गए हैं ।

कुल्लेज

दिनकर ने सौन्दर्य को सदा उपसर्ग माना है । इस सम्बन्ध में वह उल्लेखनीय दृष्टिकोण को नहीं मानते जो सौन्दर्य को केवल देखने की वस्तु मानता है और न वे यह मानते हैं कि जो अच्छा है सुन्दर है रमणीय है वह सब अपेक्षणीय है । ‘कुल्लेज’ जैसे काव्य में भी यह दृष्टिकोण बड़ी ही स्पष्टता के साथ उभर कर आया है । नीम्ब मुबिन्दर से कहते हैं—

‘मुबिन्दर स्वस्व सुख सुख को धरण भीति विस्तार
 कटती है रस भंग काल का भोगन उसे बताकर ।
 यी सौन्दर्य तेज, मुख गहरे हीन बना देती है
 यह विरक्ति मानव को दुर्बल बीन बना देती है ।’^२

X

X

X

१. कामायनी ४६ ।

२. कुल्लेज, १९० ।

‘यस्य रूपं रसं वाच्यं, स्पर्शं मानो सब क्रुष पातक हों ।
रसना, स्पर्शा, प्राण इय मृति व्योमि नही पातक हों ।’^१

दिनकर निवृत्ति के इस संन्यास की कटु भावना करते हैं । ‘कुक्षेत्र के दर्शन की पीठिका यही है । दिनकर का समस्त काव्य प्रकृति के उत्पादन का काव्य है । ‘कुक्षेत्र वाला यही प्रकृतिसूचक दृष्टिकोण उर्बशी’ में प्रकट हुआ है । उर्बशी पुनरावृत्ति से कहती है—

‘पद्मे रक्त की भाषा को विश्वास करो इस सिपि का
यह भाषा, यह सिपि, मानस को कभी न मरमावेनी
समी बुद्धि की भाषा जिसे सुख-दुःख से धरे धुवन में
पाप बीजता वहाँ पहाँ सुन्दरता हुसल रही हो
धीर पुण्य-जय वही वही ककाल, कुलिया कटि है ।’^२

दिनकर ने प्रकृतिसूचक दृष्टिकोण को घपनाया तो सही किन्तु, कहीं भी उन्होंने मान देह की क्षुधा को ही अन्तिम सत्य नहीं मान लिया । यह प्रकृति ‘रेणुका’ से ही उमड़ती बिसाई पड़ती है । ‘रेणुका’ में ही ‘परदेसी’ दीर्घक कविता में मन के संन्यास का बेजोड़ बिगड़ है । वहीं से दिनकर देह की क्षुधा और ‘मन के संन्यास’ दोनों विधियों का प्रकट करते घा रहे हैं । देह की जड़ता को उन्होंने चरम धारण के रूप में कभी भी स्वीकार नहीं किया । ‘उर्बशी’ में जो देह की क्षुधा थी है और ‘मन का संन्यास’ भी यह दिनकर काव्य का अत्यन्त स्वाभाविक विकास है । दिनकर ने योग को त्याग नहीं बदलाया । किन्तु, उन्होंने योग को चरम सत्य भी स्वीकार नहीं किया । वे उसे नील का पत्थर ही मानते रहे जो मंजिल का संकेत भर करता है । ‘कुक्षेत्र’ में ही उन्होंने कहा था—

‘योगो तुम इस भाँति मृति को बाध नहीं लय पावे
मिट्टी में तुम नहीं वही तुम में विभीन हो जाये ।
मन का होना धाविपत्य जिस दिन मनुष्य के लग पर
होना त्याग धर्मिष्ठ जिस दिन भोग निपट बीजन पर ।

१ कुक्षेत्र १३३ ।

२ उर्बशी ६१ ।

उस दिन होगा सुप्रभात नर के सौभाग्य उसका
उस दिन होगा चङ्क-ध्वजित मानव की महाविजय का ।^१

यह बात कितना ही विरोधपूर्ण क्या न लगे किन्तु यह एक निर्मम सत्य है कि 'उर्बची' का वर्धन 'कुरुक्षेत्र' में संशेप में ही सही किन्तु पूरी तरह प्रतिपादित हो चुका था। बिनाकर ने कभी भी काम को त्याग्य और वृणित नहीं माना। वे उसे जीवन का अनिवार्य अंग मानते रहे हैं। ब्रह्मचर्य का उपवेश इन्होंने कही नहीं दिया है। उनकी विवेकता केवल इतनी ही है कि काम में लिप्सा नहीं रहनी चाहिए, नहीं तो वह कम्पुजित हो जाता है। काम-भाव की उपयोयिता और अनिवार्यता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने भीष्म के मुँह से कहलवाया है—

ब्रह्मचर्य के प्रसू के दिन जो बह हुई थीं बाप,
'कुरुक्षेत्र' में फूट उसी ने छनकर प्रेम पुकारा।
वही न कोमल बाबु, कुछ मन का बा कभी न बोला
पत्नी के कुरमुट में छिपकर बिह्व न कोई बोला।
प्रकटी होती मजुर प्रेम की मुस्कर कहीं धमरता,
स्वातृ बैठा जो 'कुरुक्षेत्र' का दिन न देखना पड़ता ।^२

'उर्बची' में जिस रक्त की उष्णता को बुद्धि की निष्प्राणता से सेकट बलवाया गया है, उसके संकुर 'रसकम्पी' और 'कुरुक्षेत्र' की नर्मरी में ही तैयार हो रहे थे। यथा—

'हिम विमुक्त, निबिन्न तपस्या पर सिमता जीवन है,
नवी दीप्ति, नूतन सौरभ से रहुता घरा भुवन है।
किन्तु, बुद्धि निज नड़ी तार में रहती घात लगाये
कब जीवन का ज्वाला निबिन्न हो कब वह उसे पचाये।
और साथ ही जमी दरिद्र का बैग तनिक कम होता,
मुस्ताने की कही टहर जाता जीवन का सोता।
बुद्धि फँसती तुरत जाम निज मानव फँस जाता है
नयी-नयी सलकनें सिये जीवन सम्भूम जाता है ।'^३

१ कुरुक्षेत्र १४९ ४।

२ वही ५३ १२।

३ कुरुक्षेत्र, ५५।

इसी बात को उर्वची और स्पष्टता से कहती है—

‘रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक जानी भी क्योंकि बुद्धि सोचती और घोड़ित अनुभव करता है। निरी बुद्धि की निर्मितियाँ निष्प्राप्त हुआ करती हैं बिना और प्रतिभा इनमें का जीवन महत्ता है वह मुझों से नहीं, वह पापियों में धामा है कमाकार के अन्तर के हिनकोरे हुए रश्मि से।’

‘नील कुसुम और ‘नए सुभाषित’

‘नील-कुसुम’ में दो कविताएँ एसी हैं जिनमें दिनकर का समाधिस्थ चिन्तन जाना-बाना बाँध सका है। एक है ‘स्वप्न और सत्य’, दूसरी है ‘मत्तकों। स्वप्न और सत्य’ धीपक कविता में ही दिनकर ने पहली बार साँप को प्रायश्चित्त प्रतीक के रूप में उपस्थित किया है। साँप काम-भुजा का प्रतीक बन गया है, ‘महू में रेंधने लपट हवाओं साँप मोने के’। यही चिन्म ‘उर्वची’ में भी हुआ था क्या है—‘रेंधने लपट सहेकों साँप माने के रश्मि में’।^१ लपट की दृष्टि से ‘उर्वची’ वाली पंक्ति में अधिक निष्कार था क्या है। चिन्म, दिनकर ने प्रायश्चित्त प्रतीक के रूप में साँप के चिन्म का प्रयोग कम ही किया है। ठीक उल्टा विपरीत वे इस जीवन की निष्ठाओं का प्रतीक मानते रहे हैं। साँप का रहने की यह दृष्टि बुरा है। निष्ठा के संस्थापक का उपहास करते हुए उन्होंने ‘नए सुभाषित’ में लिखा है—

‘अहाँ-वहाँ है पूज, वहाँ क्या साँप है ?

अहाँ-वहाँ है रूप वहाँ क्या बाप है ?

पूजों में क्या है कि प्रेम से जुनते हो ?

पर, पूजों को देख घीस क्यों जुनते हो ?

साँप वाले चिन्म को यदि हम छोड़ दें तो यही बात वे इसी भाषा में ‘उर्वची’ के भी ‘पहले रक्त की भाषा’ वाली पंक्तियों में कह पाए हैं।

१ उर्वची ५३।

२ वही, ११।

इस प्रकार 'उर्बंसी' का प्रकाशन दिगंबर साहित्य की कोई सांस्कृतिक घटना नहीं है। सब तो यह है कि 'उर्बंसी' के सभी साहित्यिक निमित्त किसी न किसी रूप में दिगंबर के पूर्ववर्ती काव्यों में मिल जाते हैं। बिहार की छोटी-बड़ी सरिताएँ 'उर्बंसी' में आकर सागर बन गई हैं। हमारी राय में 'उर्बंसी' का न लिखा जाना एक विस्मयजनक बट्ठा होती।

स्वयं दिगंबर ने लिखा है कि प्रत्येक कवि अपने जीवन में एक ही काव्य लिखता है। उसकी और रचनाएँ उसकी प्रयोगशाला की बार्ड-प्रोडक्ट मात्र होती हैं। प्रयोग के क्रम में उनकी पैदाइश होती है। किन्तु, वह जिस लक्ष्य के लिए प्रयोग किए जायता है, वह किसी एक ही काव्य में प्रतिफलित होता है। 'रामचरित मानस' और 'कामायनी' इसी कोटि के काव्य हैं। तुलसी और जयसङ्कर प्रसाद की अन्य रचनाएँ बार्ड-प्रोडक्ट मात्र हैं। 'उर्बंसी' दिगंबर की प्रयोगशाला का बांझ साविष्कार है जो वह बिचारणीय है कि वह साविष्कार कितनी दूर तक सकल हुआ है। हमारी यह स्वापना है कि न केवल 'रेगुका' और 'रसबन्ती' बल्कि 'कुरखेन' भी उर्बंसी की पूर्व पीठिका है। यह बात ठीक है कि 'कुरखेन' का स्थायी भाग 'रसि' न होकर निर्बंद और उत्साह है।

'उर्बंसी' के अध्ययन की यही पूर्व पीठिका है।

कामाध्यात्म की कविता

‘उर्वशी’ को कामाध्यात्म की कविता कहा गया है ।

काम को अध्यात्म का वाचक तब समझा जाने लगा जब निवृत्तिमार्गी यमों का मम्मकुप में उल्लास हुआ । गुरु-गुरु में यम इतनी ही रोक लगाता था कि विवाहित स्त्री-पुरुष किसी तीसरे व्यक्ति से यौन-सम्बन्ध स्थापित न करें । उस समय विवाह करना बचका बहस बनकर रहना न तो पाप समझा जाता था और न अध्यात्म का वाचक ही । किन्तु जब यमों का निवृत्तिवादी रूप बड़ा तब कामाचार बुराचार का पर्याय बन गया और यह माना जाने लगा कि जब नर-नारी एक दूसरे को जान लेते हैं तब वे ईश्वर के पास नहीं पहुँच सकते । बौद्ध जैन और ईसाई यमों निवृत्ति-मूलक हैं । इन यमों ने माईस्म की महिमा का जहन किया है और पुनर्जन्म का संस्थापन करने की प्रेरणा दी । इन यमों की शिक्षा से यह निष्कर्ष निकलता है कि शरीर बरकरार करने वाले संस्थापकों को स्वयं के स्वयं का लोभ नहीं होना चाहिए और व्यक्ति को अपनी धारणा के सुकुमार तत्व को उन्नत नहीं देना चाहिए । इन यमों की यह बारण अपनी बढभुस हो गई कि साथ यह मानने लग गए कि जहाँ-जहाँ नारी का रूप है वहाँ-वहाँ पाप है । उससे बचकर ही रहना चाहिए । बुद्धजैन मारिजों को मिश्रणी होने का अधिकार नहीं देना चाहते थे और अपने प्रिय प्रिय आनंद के अनुरोध पर जब उन्होंने मारिजों को यह अधिकार दिया तो उन्हें बड़ा पक्षपात ही हुआ । ईसाई यमों के आचार्य संत पोल ने कहा—‘पुरुष के लिए यह अध्यात्म है कि वह नारी का स्पर्श न करे । धार्मिक युग में पॉपी भी नारी-मनायक को अच्छी दृष्टि में नहीं देखते थे ।

काम पर निषेधण स्थापित करने का काम अत्यन्त बुरा सिद्ध हुआ । हर युग में, हर देश में यमों और काम भयङ्करी धार और प्रतिकार यह हुआ कि काम की बाध से काम का दीपक बुझ गया । यमचारिजों ने स्तनित होने वाले नर-नारिजों की कटु-निंदा की किन्तु यह स्वयंसेवक बका नहीं । काम

की व्याप्तियाँ बहुत दूर तक जाती हैं और मनुष्य के अदृश्य भावरणों को भी वे प्रभावित करता हैं। इसे अपरस्म करने की जाहे जितनी भी ब्रह्मा की जाए, वह बार-बार सिंहासन के ऊपर धा बैठता है और शास्त्र एवं नैतिकता के प्रहरी उसे बाँधने की जो भी तैयारी करते हैं उसपर सक्क का देवता ध्वज से मुसकुराता है, मामो, वह यह कह रहा हो कि उतने बचन तो मैं तोड़ चुका हूँ, इस बार तुम कैसी रुढ़ियाँ तैयार करते हो। 'काम अध्यात्म का वाक्य इसलिए माना गया कि भ्रमबध निवृत्तिमार्गी धर्मों के प्रभाव में लोगों ने अध्यात्म और प्रकृति को परस्पर विरोधी मान लिया। अध्यात्म की व्याख्या निषेधात्मक ढंग से की गई विषयात्मक ढंग से नहीं। अध्यात्म को हमने इस दृष्टि से समझा कि वह क्या नहीं है इस दृष्टि से नहीं कि वह क्या है। पिछली दृष्टि से बेचन पर अध्यात्म प्रकृति का विरोधी नहीं न काम अध्यात्म का मनु लपेण।'^१

प्राचिनिक युग में जब विज्ञान का उदय हुआ तो पुरानी नैतिकता की रीढ़ टूट गई विज्ञान ने मनुष्य के कितने प्राँव विश्वासों के मझ भखाड़ को उखाड़ डाला और नए सूत्रों की पदादय हुई। वैदिकी और मनोविज्ञान के आविष्कारों ने मनुष्य की संकीर्णता को कम किया और उग उदार बना दिया। वैदिकी के आविष्कारों से मनुष्य वह समझने लग गया कि काम शरीर का प्रतिभाव भ्रम है और मनुष्य रक्त और मांस तथा सनमनाहटों का पंच है। इनकी पुकार की वह अनहेजना नहीं कर सकता है। जब अयड आए तब मनोविज्ञान की ज्योति में मनुष्य ने अपनी सीमाओं और शक्तियों को पहचाना और यह विश्वास जमन गया कि मनुष्य के व्यक्तित्व संतुलित विकास के लिए काम-सुख से। पलायन अमस्कर नहीं। फायड में अपने मनो वैज्ञानिक अनुसंधानों के द्वारा निर्मित रूप न वह प्रतिपादित किया कि काम मूल प्रत्यक्ष उत्कृष्ट मूल है और मनुष्य को इसमें भागना नहीं चाहिए। फायड ने अनुसंधानों में संसार में विप्लव ला दिया है और निवृत्ति-मार्गी धर्मों के अंकुश इस बाँड में बह गए। पुराने धर्माचार्यों के सत्य-विषयक ज्ञान पर भी प्रतिबंध लगा दिया था तथा मुक्क और मुक्ती बन्द कोठरी में ही, नुन-छिपकर, धीन विषयक धर्मों का अध्ययन कर सकते थे। प्रेग के

आविष्कार ने पृथ्वी को सस्ता बना दिया और जब मुबक और मुबती कविओं से काम का अध्ययन कर निकलने लगे तो उन्हें इस बात का भय नहीं रह गया कि काम शास्त्र के ग्रंथों का वे छिपकर अध्ययन करें। समाज धर्म भी पुराने संस्कारों से मुक्त नहीं है। सका है और ऐसे लोग धर्म भी हैं जो काम से सहमत नहीं हैं। यूरोप में ऐसे लोग धर्म अत्यंत सख्त हैं और हमारे देश में धर्म भी बहुतायत में है तथा समाज का नेतृत्व वही के हाथों में है। किन्तु विज्ञान ने उनके नेतृत्व का बीसा कर दिया है तथा वैज्ञानिक धर्म का धर्म के मुबक धर्म मुबतियों के हाथों में बहुत सहज रूप से पहुँच रहा है। इस स्थिति का कल्याण करते हुए दिनकर ने कवित्वपूर्ण भाषा में लिखा है—'यह ज्ञान तो दुकानों से पुकार रहा है। बीमार के स्टाफों पर दस्तकारी कर रहा है। पित्त के पर्वों पर चमक रहा है और उपवासों तथा धर्म साहित्य के जरिए घर-घर में प्रवेश कर रहा है।'^१

धनुषीयों पहले काम के धर्म में पकती हैं। कवि जब उनका आस्वादन निश्चिन्ता है। कोई भी कवि पहले अपने समय का कवि का होता है। वह और कुछ काम के देवता के इच्छित पर जाता है और वही की धनुषीयों को भाषा प्रदान करता है। इसलिये कोई भी कवि समय से पहले नहीं आता है। कवि वास्तविक तो नहीं होता किन्तु दर्शन की विरोध बाध उसकी कविता को प्रभावित करती है। मध्ययुग में जब एकदली और पूर्णिमा की चीज का किन्तु धर्म की पूर्ण मार्गकता तक है जब वह धनुष्य के वैद आचार्यों को प्रभावित करे और वह प्रत्येक मास में समा जाए। धर्म के प्रति यह दृष्टिकोण धर्म विज्ञान के आत्मिक में उभरने लगा है। आज धनुष्य यह नहीं मानता कि काम अध्यात्म का वाक्य है। यह ब्रह्मचर्य की महिमा का बर्णन नहीं है। प्रकृति-लोक ज्ञात भी है और उपवास भी करते हैं। किन्तु प्रकृति स्वयं न तो यह कहती है कि कामो ही न यही कि उपवास करो। उपवास की तरह ब्रह्मचर्य भी व्याप्य कुर्य है। धर्म छिद्र लिखितों से निकलकर किसी धर्म विज्ञान में काम करे। वेधन वास्तविक कुर्य मातृकर ब्रह्मचर्य वास्तविक करने वाला का बोध यह है कि वह काम को अध्यात्म का विरोधी मानकर चलता है।^२ इसलिये आज का कवि धर्म के ऐसे लोगों

से प्रभावित होता है जो ओठ या ता काम के पर्वत से निकसते हैं या काम के समुद्र में जाकर समाहित हो जाते हैं।

जब विज्ञान के अनुसन्धानों के आसक्त म काम की महिमा बड़ी और पुस्तकों की प्रतिष्ठा बहुत ऊँची उठ गई तब कवि और चिंतक बचन के ऐसे स्रोत के पास पहुँचने लग गए जो काम के तटों से होकर बहता है। जब ऐसे दर्शनों के प्रति निष्ठा बड़ी तब लोगों ने आश्चर्य से देखा कि प्रायः से पहले भी कितने ऐसे धार्मिक सम्प्रदाय हुये ज जो काम को गहिष्ठ नहीं समझते थे। जब चिंतकों को इस सत्य का साक्षात्कार होने लगा था कि संस्कृत में मनुष्य के चिरन्तन धार्मिक धर्मोपदेशों में बराबर महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। धर्मोपदेश करने की जो धार्मिक प्रथा बहुत बड़े पमाने पर आदिम मनुष्यों में प्रचलित है वे प्रचार्य यौन रहस्यों की शिक्षा से सम्बन्धित हैं। स्टाबक नामक विद्वान ने कम परिवर्तन के सम्बन्ध में जो साक्ष्यकी एकत्र की है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह धर्म परिवर्तन युवावस्था के प्रायमग के समय ही अधिक होता है। स्टाबक ने यह भी बतलाया है कि धर्म परिवर्तन धीरे युवावस्था में दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इस निष्कर्ष की पुष्टि अन्य समाजिक तन्त्रों से भी होती है। बिकार, मछली मारना या कृषि इत्यादि से सम्बन्धित आदिम धार्मिक उत्सव हमेशा किसी न किसी स्पष्ट या प्रतीकात्मक रूप में यौन-श्रुतिश्री की अभिव्यक्ति हुया करते थे। कितनी आदिम जातियों के बंसदोस्तकों में कमल होने धीरे काटने से सम्बन्धित जादुई धार्मिक आचार्यों में आदिम वर्तनों की प्ररचना और चिह्नों तथा तरह-तरह के नृत्यों धीरे धार्मिक मनों जादू-मोने पादि में हम प्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रूप में यौन अभिव्यक्ति पाते हैं। धर्म-परिवर्तन करने वाले व्यक्तियों के जीवन-चरित्र के अध्ययन से यह पता चलता है कि धर्म-परिवर्तन के पहले उनके जीवन में यौन सम्बन्धी तनाव धीरे बिभूति थी। पूर्ण धार्मिक मनुष्य के जीवन में भी कभी-कभी पूर्ण यौनावेध और उसकी अभिव्यक्ति पाई जाती है। ऐसे कई धार्मिक सम्प्रदाय हैं जो यौन अभिव्यक्ति को पाप नहीं मानते। मूडीयत में सातमस में लम्बबाह मं धीरे वैष्णवों के सहस्रिया सम्प्रदाय में किसी न किसी रूप में यौन अभिव्यक्ति का विधान है। न केवल इन्हीं धार्मिक सम्प्रदायों में बल्कि ग्रीस मिथ धीरे भारत के पुनन धर्मों में हम पाते हैं कि संस्कृत ब्रह्माद व्यापी प्राण-शक्ति वा यन या बाह्य है धीरे रमी से पुर्यों का विधान हुआ तथा यौन अभिव्यक्ति को बिभिन्न करने वाली

मूर्तिमों का निर्माण मंदिरों में किया गया। सेक्स में इस प्रकार सामिक मनोवृत्ति के संघटन में योगदान दिया है। वैदिक दृष्टि से सेक्स के विकास के लिए ब्रिज हारमोन्स का घरीर में शरण होता है वे घरीर की भाग्य क्रियाओं को भी उत्तबित करते हैं। युवावस्था में सेक्स से जो उत्तेजना होती है वही उत्तेजना संतत-मनुष्यों को ऊँचे धारणों की ओर भी आकर्षित है। इसलिये युवावस्था में ही मनुष्य धारणवादी भी होता है और रगीमियों की ओर भी आपठा है।^१

हमारे देश में जब प्रवृत्ति का उदयमान हुआ तब लोगों ने निवृत्ति-मार्गी दर्शनों से घुट्टी पा ली। नई नैतिकता काम को त्याग कर जब नहीं मकनी थी। इसलिये ऐसे दर्शनों की ओर लोगों की दृष्टि गई जो काम से बिचकते नहीं हैं। ऐसे सामिक सम्प्रदाय हमारे देश में तीन प्रमुख हैं—बाम सिद्धांत और कौम। बसिख पक्षी मठों में ठीक और धाक मठ काम को गहित नहीं मानते हैं। यह धारणों की बात नहीं है कि कामाध्यात्म की कविता निबान के लिए कामागनीकार को भी ठीक-भाक दर्शनों का सहारा सेना पडा। सर्वधीकार जब काम के हाथ सम्म्यात्म की भूमि पर पहुँचने की कैप्टा करने मया तो उसे भी ठीकों और धाकों के दर्शनों को ही आचार धिक्ता मानना पडा सहबिया सम्प्रदाय की शरण सेनी पडी। ठीक और शक्ति मठ की चारा काम के तटों से होकर बहती है, कामाचार का जोत काम के परंत से फूटता है और सहबिया सम्प्रदाय की अंतिम परिशुति काम के समुद्र में होती है। दिनकर की रविमयी इसी समुद्र से धपना मेघ-जल में घाई है और पवित्रम से बहकर घाने वाली नॉरेन्स प्रवृत्ति बिचारकों की नदी पर बरस लकी है। उर्वशी की बासबिक पीठिका की वही मनोवैज्ञानिक पुच्छ-भूमि है।

उर्वशी में शाक्त-दृष्टि

धाक मठाबलम्बी धाक-वर्म को उतमा ही प्राचीन मानते हैं जितना प्राचीन वैदिक वर्म है। संनबाद क अनुसार मृष्टि का उद्भव और विकास ठीक और धाक के संनोय से होता है। ठागिकों की दृष्टि में धिक् तना

१ The Horizon of Marriage राबा नमन मुघर्जी, १११-१११ (विशेष विवरण के लिए देखिए)

शक्ति में कोई भेद नहीं है। मूलतः दोनों एक ही हैं। जो परम शिव है वही परमशक्ति है। शक्ति के बिना शिव इच्छाहीन ज्ञानहीन क्रियाहीन और स्वयं में असंभव सब मान है, और प्रकाशात्मक शिव के बिना शक्ति प्रारम्भ प्रकाश में भी असंभव है। दोनों ही विरूप होने के कारण स्वस्मत् अभिन्न हैं, एवं एक को छोड़कर दूसरा रह भी नहीं सकता। वस्तुतः विलम्ब स्वयं में लिये भव नहीं है। इसलिये वह धर्मिक होकर भी सर्व निगम रूप में प्रकाशित होता है तथा नानास्विय रूप में प्रकट होने पर भी अभिन्न है। ब्रह्मणी में लिखा है—

शिवो देव शिवा देवी शिवव्योतिरिति शिवा ।

अभिगमयति ॥ तत्त्वं सिग भवेत्त कथ्यते ॥ (कुमार वृतात्प्रकाश काव्य)

यह निम्न निर्विष्ट स्वेताश्वतर धृति की ही प्रतिष्ठा है— नैवर्त्तनी न पुमानेव न चाप (स्यात्) नपुंसक ।

'शिव शक्ति मिलने के कुछ घूँघरे सङ्गत भी हैं जिनका उल्लेख वेदांगम और पुराणों में पाया जाता है। शरीर के बाय भाग में शक्ति बसती है और दक्षिण भाग में शिव। एक ही शरीर में शिव और शक्ति का एकत्र निवास यही अर्धनाटीरवर की कल्पना है। योग-दर्शन के अनुसार दक्षिण स्वास का नाम विगता है जिसमें शिव का निवास है और बाय स्वास का नाम इडा जिसमें शक्ति निवास करती है। साधक का कथ्य है कि वह विगता और इगता को एक स्थान पर लाकर उन्हें एकाकार कर दे। स्वासों के इस एकीकरण का पारिभाषिक नाम सुमुग्धा है। जब ये एक घूँघरे से बढ़कर या घट कर नहीं बसते तब वे तटस्थ स्थिति में पहुँच कर समरसता को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार शरीर और मन के इन्हीं को भी तटस्थ बनाना उन्हें समरसता की अवस्था में ले जाना तब साधना का व्यय है। योग के साधक का मिश्रण उग्रमात्रियों ने इस विचार से किया कि साधक और माधिका दोनों इस अनुभूति तक पहुँच सकें कि वास्तव में वे नर-माटी नहीं प्रसुत, उससे भिन्न कोई और तत्त्व है जिसमें लैंगिक भेदों का आरोप नहीं किया जा सकता जो कुछ कुछ और सभी शिवसाधक गुणों से स्वतन्त्र हैं।^१ विनकर का पुनरुत्था इसी आधुनिक उपपत्ति का उपस्थित करते हुए कहता है—

‘वह निरञ्ज आकाश जहाँ की निर्विकल्प सुषमा में
म तो पुरुष मैं पुरुष न तुम नारी केवम मारी हो
दोनों हैं प्रतिमान किसी एक ही भूम सत्ता के
देह-बुद्धि से परे, नहीं जो नर भयमा मारी है।’

‘तन्त्र मार्ग की एक क्रांतिकारी धारणा यह भी थी कि तन्त्र साधना
करने से साधक सुहृत्स्व होता हुआ भी सिद्ध हो सकता है। किन्तु सिद्धि
का प्राधान्य शाक्त-साधना में बाद की हुआ। वैसे यह साधना भी मोक्ष की
ही साधना है। जीव मात्र को शाक्त तन्त्र तीन कोटियों में विभक्त करते
हैं। सबसे नीचे ‘पशु’ है जो माया के बास में आबद्ध है। उसके ऊपर ‘वीर’
और उससे भी ऊपर ‘दिव्य’ जीव की कोटियाँ हैं। साधना के क्रम में ‘पशु’
को ऊपर उठकर ‘वीर’ की कोटि में आना पड़ता है और जो ‘वीर’ की
काटि से ऊपर उठ गया वह ‘दिव्य’ बन जाता है।^१ पुनरुक्त पशु से ऊपर
उठा हुआ प्राणी है जो ‘वीर’ से ‘दिव्य’ कोटि तक पहुँचना चाहता है।
उनकी आध्यात्मिक पीड़ा यही है—

‘ये किरणें ये फूल किन्तु, अन्तिम सोपान नहीं हैं
उड़ना होगा बहुत दूर ऊपर इनके तारों पर
स्याह, ऊर्ध्व उस धम्मर तक जिसकी ऊँचाई पर से
वह मृत्तिका-विहार दिव्य किरणों का हीन लयेगा।’^२

मंडैत साहित्य में परमात्मा की तीन भाषाओं का विवरण मिलता है।
उनमें पहली भाषा है—परमात्मा से बहिर्बुद्ध होने पर अविद्या के अवलम्बन
द्वारा जीव-आत्म चारण्य कर मनुष्य भाव की प्राप्ति तक। दूसरी भाषा है—
मनुष्य भाव में ज्ञान-प्राप्ति द्वारा अविद्या को हटाकर छिद्र सचेतन भाव से
निज-आत्म का परमात्म भाव की प्राप्ति एवं सोहृद् रूप में ध्यान योग स्वरूप
का पूर्ण परिचय होने तक। पहली भाषा अज्ञान की भाषा है और दूसरी
भाषा है ज्ञान की। ज्ञान की भाषा चारण्य के विपरीत ज्ञान के समान है।
‘ब्रह्माचार उन्नीस धारा की साधना है। उसका वार्षनिक आचार यह ब्रह्मना
है कि चिन्त-शक्ति से छूट कर जीव माया के प्रवाह में बहता-बहता जगत्

१ उर्बो १३

२ मं० का० प० २२३

३ उर्बो ११

ग्रहण करता है। अतएव वह यदि मोक्ष पाना चाहे तो उसे उमट कर उस उद्गम की ओर गमन करना चाहिए जहाँ से माया की धारा निःसृत हुई है।^१ कहन की आवश्यकता नहीं कि यह जस्टी यात्रा व्यत्यस्त कठिन कार्य है। इसलिये जीव जवन से जस्ट मोक्ष नहीं पाता है। पुनरुक्त कहता है—

‘एक बुद्धि से अधिक जमी है अधिक समर्थ सभी तो मित्र उद्गम की ओर चहुँ हम लौट नहीं पाते हैं। पूर्ण नहीं पाते उस अव्यय एक पूर्ण सविता एक जोये हुए ध्वज मायवी किरणों के कमल में।’^२

‘ब्राम्हण ने इस विषय पर जोर दिया कि संसार से मुक्ति का उपाय उमसे मायना नहीं प्रयुक्त सर्वतोभावेन उसे स्वीकार करना है। ब्राम्हणार्यों का विश्वास है कि जो जीव मनुष्य की भीचे गिराती है, वही उसे ऊपर भी ले जाती। इसी विश्वास के कारण ब्राम्हण-मार्ग में मध्य मांस-मीन मुद्रा और वैष्णव से मुक्त पंचमकार पूजा का प्रचलन हुआ जिससे किसी भी बुद्धिमान उत्पन्न हुई और शास्त्र-वर्ग दूषित एवं कम्पित समझ जाने लगा।^३ दिनकर भी काम के सम्बन्ध में वही राय रखते हैं कि उसके द्वारा मनुष्य ऊँचा भी उठ सकता है और नीचे भी गिर सकता है। उर्बंसी कहती है—

काम कम काम ही पाप है काम किसी यात्रक का उच्च लोक से गिरा होने पशु जन्म बना देता है। और किसी मन में असीम सुषमा की तृप्ति बनाकर पहुँचा देता उसे किरण-सेवित अति उच्च सिद्ध पर।’^४

‘वह जीव शिव-शक्ति में निहित था, तब वह मयिमायक स्वयं और धर्म की स्थिति में था। शिव शक्ति से निःसृत होने पर ही ईश में पड़ा है। इसलिये संसार की कुछ बलुओं को वह काम्य तथा कुछ को अकाम्य समझता है कुछ को शिव और कुछ को अशिव मानता है।’^५ दिनकर कहते हैं—

१ म. भा० अ० २२४

२ उर्बंसी ६१

३ स० भा० अ० २९४

४ उर्बंसी ६४

५ म० भा० अ० २२६

‘मन की वृत्ति यह है, प्रकृति में, सचमुच, उँठ नहीं है।
जब तक प्रकृति विभक्त पड़ी है इवेत-मयम लडों में
विश्व तभी तक मामा का मिथ्या प्रवाह भयता है।
किन्तु, शुभाशुभ भावों से मन ने छटस्य होठे ही
न तो चीखता मेव न कोई संका ही रहती है।’^१

इसी विधि और अप्रिय भयने के भाव से विधि और निषेध के नियम
बने हैं जो विस्तृत कथिम हैं। संसल में सखार का कोई भी वृत्त करणीय वा
अकरणीय नहीं है।^२ विधि और निषेध मुक्ति के मार्ग नहीं हैं वे मन के
बंधन हैं। विधि और निषेध के बिना छीतम रहने वाला मन ही सच
मातबता का मन है। विधि और निषेध विषयक संकल्प से उँठ पैदा होता
है चेतना और सुधा में द्वन्द्व सम्पन्न होता है। उर्बशी कहती है—

‘हम इच्छुक अक्षुण्ण प्रमोद के, पर, वह प्रभु निरामय
विधि निषेध-मम संघर्षों यत्नों से साध्य नहीं है।
घाटा है वह घनायास बीसा फूटा करती है
टाकी से टहनियाँ और पत्तिर्मा स्वतः टहनी स
या रहस्य भित्तक के मन से स्वयं कौंच जाती है
बीते फिरल अहस्य लोक की मेव भयम सता का।’^३

पुन —‘विधि निषेध है बही, नही पर कर्म अक्षम नहीं है
विधि निषेध कुछ नहीं नियम है वे धवन-भजन के।’^४

इसी बात को पुनरुक्त और अधिक सखलता से उपस्थित करता है—

विधि निषेध सत्य ही स्यात् जब पर की रेखाएँ हैं,
कोई सेत नहीं उगता भीतर के भयम समित पर।
और उबार जो भी उठता ऊपर अवचेत-घटम से
विधि-निषेध का उस पर कोई जोर नहीं चलता है।’^५

१ उर्बशी ७२

२ सं० भा० ध २२४

३ उर्बशी ७२

४ बही ८०

५ बही, ८३

दिनकर मानते हैं कि विधि और नियम सम्भवतः मानवता की पहचान नहीं है ये सतह पर के फेन और बुलबुले हैं। मनुष्य का चरम लक्ष्य मोक्ष है। उनके अनुसार—

‘मुक्त नहीं जा सहज भावना में हममें बहते हैं,
विधि नियम से पर छूटकर सभी कामनाओं से
किसी ध्येय के लिए नहीं केवल बहते रहने को
क्योंकि और कुछ भी करना शक्य या भाग्य नहीं है।’

तांत्रिक शास्त्रों का विकास इस बात में रहा है कि पिंड और ब्रह्मांड दोनों एक हैं। जो शक्ति महाब्रह्मांड में फैलकर सृष्टि की सीसा का विस्तार करती है, वही पिंड (शरीर) के भीतर भी घपना काय कर रही है। मानव शरीर के भीतर जो वैश्व नियम ब्रियाशील हैं वे ही सौंदर्य नियम बनकर ब्रह्मांड में काम कर रहे हैं। अतएव सत्य के लिए आकाश-वाताल ज्ञानने का प्रयत्न ध्येय है। सर्व मनुष्य के शरीर के भीतर छिपा हुआ है और उस उपलब्ध करने का साधन भी मानव शरीर ही है।^१ इसी ब्रह्मांडव्यापी शक्ति के सम्बन्ध में उर्बंजी कहती है—

(विचारों में जो जीवन बही करणों में गरज रहा है,
ऊपर जिस की ज्योति छिपा है बही तर्क के तम में।^२

‘यह विचार तर्क समस्त है कि जीवन मुक्त तभी हो सकता है जब उसने सार पाय छूट जाएँ। पापों में से कामिनी और काचन ये दो पाप महा भयानक हैं। वैदिक धर्म के धम्बर जो भी सम्प्रदाय बने, उन्होंने वही सिखाया कि मोक्ष प्राप्ति के लिए माया के पापों से छूटना परमस्त आवश्यक है। कर्मवादियों ने कर्म के द्वारा ज्ञानमार्गियों ने ज्ञान के द्वारा इन्हीं पापों से छूटने का प्रयास किया। एक घाल धर्म ही ऐसा निकला जिसने यह कहा कि माया के असत्य होने कारण उनके गढ़ हुए पाप भी प्रभाव हैं। वे कुछ नहीं हैं कुछ होने के भय मान हैं। अतएव उनमें भागना ध्येय है।’^४ उर्बंजी पुनरुक्त को सम्प्रसारित हुए कहती है—

१ उर्बंजी ८२

२ सं० भा० पृ० २२५

३ उर्बंजी ७८

४ सं० भा० पृ० २२३

प्रकृति नहीं माया माया है नाम भ्रमित इस भी का
बीजों-बीज सप-सी जिसकी जित्ना फनी हुई है
एक भीम से जो कहनी कुछ कुछ भ्रमित करने का
घोर घुसरी से बाकी का बजन सिखाती है ।^१

‘कामिनी माया का सबसे प्रबल पाप मानी जाती थी । शाक्त धर्म न
मपन बीर-कोटि के साधकों से कहा तुम उस भ्रमिति में धा गए हो जब
नारी समापन भी तुम्हारे लिए पाष नहीं उवासीकृत धानव का ही प्रतीक
होगा । तुम इस भाव से समापन करो कि प्रत्येक पुरुष में शिव और प्रत्येक
नारी में शिवा प्रबल है और वही भी नर-नारी का समापन होता है, वही
धसन में शिव और शक्ति ही समापन कर रहे हैं ।^२ बिनकर का पुरखा
इसी ऊँचाई से जानता है—

‘यह शक्ति शक्ति विमोच नहीं शक्ति के लक्ष्य जीवन का
परिवर्तन है स्निग्ध धान्य बीजक की सौम्य शिखा में ।
मिम्बा नहीं प्रशस्ति प्रेम की छसना नहीं समर्पण
त्याग नहीं संजय उपत्यकामों के कुमुद-कुमों को
ने जाना है यह समुद्र नगपति के शृंग शिखर पर,
वही वही कैलास प्रान्त में शिव प्रत्येक पुरुष है
और शक्तिशालिनी शिवा प्रत्येक प्रणयिनी नारी ।’^३

धर्म धर्मों में काम को पाप माना था । शाक्त साधकों ने उसे भी पवित्र
कर्म मान लिया । उर्वशी की भूमिका में बिनकर ने लिखा है— इन्द्रियों के
मास से अतीन्द्रिय बरतन का स्पर्श यही प्रेम की आध्यात्मिक महिला है ।
देश और काल की सीमा से बाहर निकलने का एक मार्ग योग है किन्तु
उसकी घुसरी राह नर-नारी प्रेम के भीतर से भी निकलती है मनुष्य का
यह अनुमान धरमन्त प्राचीन है । शाक्तमत इस दृष्टिकोण का समर्थन करता
है । शाक्त-धर्म में साधक का साधिका के साथ समापन का प्रतीक है । योगी
योग के द्वारा जिस मधुमती भूमिका में पहुँचते हैं प्रणयी आतिथन-पास में

१ उर्वशी ७८

२ सं० भा० ध० २२७

३ उर्वशी १४

मायब्र डाकर उसी भूमिका का साक्षात्कार करते हैं। राजि के रोमांटिक लक्ष को प्रस्तुत करते हुए पुनरावृत्ति कहता है—

मिठा योग-वायुति का लक्ष है और उपर्य प्रणय की
ऐक्यमिष समाधि काम के इसी भग्न के भीचे
भूमा के रस-यधिक समय का प्रतिबलण करते हैं
योगी बने अपार योग में प्रणयी धामिदन में।^१

शास्त्र संस्कारों में दीक्षित बिनकर यह सहज मानते हैं कि पुम्बन और चित्त एक ही सम्य के सागर में पहुँच कर रीत जाने वाली दो नदियाँ हैं। इहस्य हीन नहीं होता है। लब्धा और बधिर की उच्छ्वासा को भोगते हुए भी यह ईश्वर तक पहुँच सकता है। उर्वशी कहती है—

देवता एक है अचित नहीं इस मंदिर शक्ति की छाया में
मारोहस के सोपान भगे हैं लब्धा बधिर में काया में।
परिरंभ-पाश में बने हुए उस धम्बर तक उठ जाओ रे।
देवता प्रेम का सोपा है, पुम्बन से उसे जवाभा रे।^२

सारेन्स का प्रभाव

यूरोप में जब क्रामड का आगमन हुआ तब काम के सम्बन्ध में समाज का दृष्टिकोण बदलने लगा और धर्म भी कुछ-कुछ उबार हो गया। प्रापुनिक युग का नेता यूरोप है। चित्तन पहले यूरोप में होता है। तब उसकी बात भारत में भी बहकर बसी जाती है। यूरोप में ही विज्ञान अपने प्रकर्ष पर पहुँचा और वही उसकी प्रतिबिम्बा भी शुरू हुई। विज्ञान बुद्धिवाद की रीत है और बुद्धि के द्वारा ही वह एतद् के सभी छोर तक पहुँचना चाहता है। मानना होता कि धीवर्ग में धनक वशात् एतद् हैं जहाँ बुद्धि की सुनहली किरण नहीं पहुँचती है। यूरोप में इस बुद्धिवाद का विरोध नीत्से मनोमोसे फास और सारेन्स ने किया। सारेन्स बुद्धिवाद का विरोधी का विन्नु नाम का वह जगद्वस्त समर्थक था। उसका कहना है पवित्रतावाद के उद्घाटन न समाज को अर्थव्युत्पन्न बना दिया है। मध्ययुग में पवित्रतावाद का उद्घाटन हुआ और समाज सोपसे आदरवाद से वस्तु हो गया। सारेन्स का कहना

है कि मारेजी समाज चौखर के समय में सेक्स से उतना नहीं भागता था जितना कि वह सेक्सपियर के समय से भागने लगा। चौखर काम के पारंपरिक पक्ष का वर्णन यही सहजता से करता है और उस कोई शिष्या नहीं है। किन्तु, सेक्सपियर के साहित्य में यह बात नहीं है। लॉरेन्स ने हैमलेट की मन स्थिति का विश्लेषण करते हुए बताया है कि उसकी प्रेमी काम के पारंपरिक पक्ष की प्रतीति है। हैमलेट अपनी माँ के प्रथम प्रेम से निराशा हुआ है। हैमलेट को अपनी माँ के प्रथम पौन-सम्बन्ध (Incest love) से प्रेम लगती है। यही प्रेमी उसे ओफेलिया के प्रेम से भी निरख सकती है। सेक्सपियर उसी चौखर के निरखल प्रेम का रूप मिसना दुर्लभ हो गया। इसके कारण का विश्लेषण करते हुए लॉरेन्स ने बताया है कि १६वीं सताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही इंग्लैंड में उपद्रव रोम का धाना शुरू हो गया था और सेक्सपियर के समय तक तो यह बहुत खोर से इंग्लैंड में फैल चुका था। लॉरेन्स ने बताया है कि सेक्सपियर के साहित्य में इस उपद्रव रोम की छाया दिखायी पड़ती है। सेक्सपियर बार-बार प्रभाव के लिए Poet का उल्लेख करता है। सोचनी सताब्दी तक उपद्रव रोम बहुत व्यापक हो गया था और इसका प्रभाव उस युग की कविता में केतना पर पड़ने लगा था। हैमलेट और स्कॉटलैंड के राज-परिवार उपद्रव से प्रस्तुत थे। एलिजाबेथ प्रथम और जॉन एडवर्ड पैराइसी उपद्रव थे। एलिजाबेथ को इसी रोग के कारण जीने नहीं थी, उसके दाँत खड़े थे और अपने को उसने प्याह के योग्य नहीं समझा होता। जॉन एडवर्ड इसी रोग से बचपन में ही मर गया। इसी उपद्रव रोम के कारण मेरी किंग्समैन ही मर गयी। इसी तरह ट्यूडर बंध के सभी राजे मर गए और उपद्रव से प्रस्तुत हुनरा सम्राट सिंहासनासक्त हुआ—जेम्स प्रथम। स्कॉटलैंड की राजा मेरी का नाम भी ट्यूडर राजाओं से मिला नहीं था। जब सेंट एडमंड का मार्क विषय मेरी के पुत्र जेम्स का नामकरण कर रखा था तब मेरी उसे (मार्क विषय की) बैठकर बगड़ा गई थी क्योंकि उसकी सारी देह पर उपद्रव के पाव थे। मेरी को कम हुआ कि कहीं उसके पुत्र को भी यह रोग पकड़ न सके। पर मेरी को चिंता व्यर्थ थी क्योंकि जेम्स प्रथम जन्म से ही यह रोग से ग्रस्त था। इस प्रकार जेम्स प्रथम को ईसाई दुनिया का सबसे बुद्धिमान बूढ़ा या इन रोग का अपनी संतान को दे गया था और स्टुअर्ट बंध ही इस रोग से आहित बन गया। जब इंग्लैंड और स्कॉटलैंड के राज बंध की यह हासत थी तब वहाँ के सरदारों और सामंतों की चर्चा ही

बेकार है। इंग्लैंड के सभी कुसीम परिवार व्यापार करते थे। पूर्व के देशों से धीर अमरीका से उगका व्यापार चमत्ता वा धीर इस प्रकार उपबंश रोग उनके बून का धामी बन गया। जब यह रोग रबिर में प्रवेश कर गया तब यह उनकी चेतना में घुसा धीर जब चेतना में घुसा तब उनकी प्राणवती कल्पना पर भी आघात करने लगा। उपबंश ने संघर्ष आनि की प्राणवता को मार डाला। चोसर का इयसीड प्रेम के धारीरिक वज से भागता नहीं वा प्रत्युत उसमें बून रख लेता वा। सेक्सपियर का इयसीड उससे कठघने लग गया धीर सेली तथा कीट्स का इयसीड उससे बहुत दूर रहने में शोष मानने लगा। कलस्वरूप ऐसे-ऐसे सिद्धान्त बाकब गढ़े गए जो एक विचित्राणु सम्मता के प्रतीक हैं—जैसे मीदय करेब है (*Beauty is Snare*) सुन्दर वह है जो सुन्दर धावरण करता है (*Handsome is as handsome does*) बेहूष देखकर निर्लज्ज मत करो (*Don't judge by appearances*)। कहना न होना कि ये सब बंध्या सम्मता के फरेब थे। इन सबने—इयसीड को मार दिया—जो बचा वह मुर्दा इयसीड वा। एक मरं। बुई सम्मता—तस्मिन् के लक्ष्यों में हस्तमैबुन की सम्मता।

तस्मिन् इसी सम्मता की प्रतिविधा में उत्पन्न हुआ वा। तस्मिन् की धाबाज हस्तमैबुन की सम्मता के विरोध में उठई गई धाबाज है। तस्मिन् काम का भापी समर्बक है। उसका कहना है कि हम कितना भी कठोर धीर संवमी बनने का समिनय क्यों न करें हममें से अधिकांश शोष सक्त् के सामाग्य (*Moderate*) आचरण को पसन्द करते हैं। सेक्स हमें उष्णता प्रदान करता है किसी बदन की के बिना ये प्रकट होने वाली धूत की तरह उत्तेजित करता है हममें जिन्दागी की लहर बीड़ा देता है। मानव जीवन में सक्त् बड़ा ही चलितामी लाभदायक धीर धावरणक बीज है धीर हमें इसका इतना इतना चाहिए क्योंकि जब कभी किसी मूय की किरण की तरह इसका प्रवाह का हम अपने भीतर महसूस करते हैं, तब हम बीड़ा गरमा जाते हैं।' दिनकर की उर्बेसी लयमय तस्मिन् की ही भाषा में कहपी है—

वह बिद्युत्तम स्पर्श तिमिर है पाकर जिसे लम्बा की बीर टूट जाती रोनों में दीपक बन उठते हैं?
वह धार्मिक संघकार है जिनमें जैम जाने पर हम प्रकाश के मश्रा जिबु में छतराने मगते हैं?

धीर कहोये तिमिर-युग उस पुम्बन को भी जिससे
बढ़ता की बँचियाँ निश्चित तन-मन की कुल बाठी हैं ?^१

इस मजाबी इसक हकीकी का सोपान है। प्रेम की शुरुआत भीतिकता में होती है और परिणाम अभ्यास में।

तारिन्ध का कहना है कि धायर ही कोई युग इतना अतिशय मातृक वास्तविक अनुभूति से रहित तथा अल्प अनुभूति से पूर्ण रहा हो जितना कि हमारा युग है। अतिशय मातृकता और अल्प अनुभूति एक प्रकार का खेल बन गए हैं जिसमें हर व्यक्ति अपने पड़ोसी को मातृ कर देना चाहता है। धाय का भावनी अल्प अनुभूति में जीता है, अल्प अनुभूति के लिए जीता है। कुछ समय तक ऐसा समझा है कि समय अच्छा ही जा रहा है सब कुछ ठीक है और तक एकाएक सभी सम्बन्ध टूट जाते हैं। साथ व्यक्तिगत बर्तनाशूर हो जाता है। हम एक जगह घसें तक अपनी अनुभूतियों के सम्बन्ध में ही अपने का मोला दे सकते हैं, लेकिन यह सब दिन तक नहीं चल सकता है। अन्त में हमारा धीरे ही हमें ठोकर मारता है—बकी भरहमी में और बिना किसी परचाटाय के।^२

लेख अल्प आश्रम पर आश्रमण करता है। अल्प प्रेम के खिलाफ इसका आश्रमण विरम होता है। धाय हम देखते हैं कि जो व्यक्ति किसी दूसरे से प्रेम करता है वही कम उसी से और से पूरा करने लग जाता है। यह भव्यो-गरीब बीज इमी लकली प्रेम की रेल है। यह प्रेम ही मूठा है। पूछा ता उसी का स्वामाधिक परिणाम। वो यह बीज हर युग में रहती आई है, परन्तु इस युग में जितनी माया में है उतनी कम नहीं थी। जो पादमी हमारे से प्रेम करता है बहुत दिनों तक प्रेम दिये समा बही एकाएक देखता है कि सबसे प्रथम पूछा एकाएक था यही। तारिन्ध कहता है कि यदि यह बटना युवावस्था में नहीं हुई तो पचासा के सभी पटनी क्योंकि यह समय बड़े परिवर्तनों—यौन भावना के परिवर्तनों—का होता है। हमारे युग में—इसमें अधिक विस्मयजनक और कोई बात नहीं है कि भर-भापी जो कभी एक दूसरे से प्रेम करते थे तीव्र-पूछा करने लगते हैं। यह पूछा विविध-विविध रूप से पृथ्वी है।^३

१ उबेंची ४७

२ A' Propos, 93-5

३ Ibid 96-7

उर्बंशी की भाव भूमि यही है। दिनकर ने हमारे युग की इस समस्या को बड़ी निष्कलङ्कता से उपस्थित किया है। पुरुरवा श्रीसीमरी से प्रेम करता है और श्रीसीमरी ने मात्र व्यक्तिगत पुरुरवा को समर्पित कर दिया है। पुरुरवा को कोई प्रभाव है इसका उसे तब तक पता भी नहीं था जब तक कि उसने उर्बंशी को देखा नहीं। यह कहता है—

‘एक मूर्ति में सिमट पयी किस भाँति सिद्धियाँ सारी ?

कब या ज्ञात मुझे इसनी सुन्दर होती है नारी ?’

उर्बंशी यह नारी है जिसकी पुरुरवा को खोज ली। इस नारी के बिना उसका व्यक्तित्व अधूरा था—किन्तु, उसे इसका पता नहीं था। उर्बंशी को देखकर उसे मान हुआ कि उसका जीवन अब तक खूँसा था। इस लिए उर्बंशी को पाकर वह निहत्त हो उठता है—

क्या उपचार कर मैं ?

सुख की इस भावक तरंग को कहाँ समेट दूँ मैं ?

गह्रा बाहता सिन्धु प्राण का कौन ग्रहण करे ?

कुप्रा बाहती हृदय को फोंक रक्त की चारा ?

कौन मुरझि की दिव्य बेलि प्राणों में पनक उठी है ?

नयी चारिका कौन भाव मूर्त्ति पर चमक पड़ी है ?

किस पाटन के मन्त्र-बिक्ल बल उड़कर अनिस-नहर में

मन्त्र-मन्त्र तिर रहे भाव प्राणों के भावक घर मैं ?^१

दिनकर ने इसी पृष्ठभूमि पर सद्यः प्रेम की प्रतिक्रिया में उत्पन्न वृत्ता की बड़ी अन्धी व्याख्या की है। जब से पुरुरवा का उर्बंशी में मिलन हुआ तब से दिनकर ने कभी-कभी पुरुरवा-श्रीसीमरी का मिलन नया रिक्रमामा है। अन्त तक भी वे नहीं मिलते हैं। यह दिनकर की अश्रुवपुत्र कलामय उपलब्धि है—हिन्दी कविता में सर्व-प्रथम। प्रेम के बिना लेखन स्वामी होना है। उसकी सारी सार्वभौमता प्रेम से है। शरीर और शरीर का मिलन प्रेम नहीं होता है। प्रेम में शरीर मन और आत्मा तीनों के परास्पर पर नर नारी एकाकार होते हैं। श्रीसीमरी से पुरुरवा को वह नहीं मिला था जो प्रेम देना है। इसलिए उर्बंशी को देखकर उसे पाकर वह सब कुछ भूल जाता है।

सतीस या नर-नारी सम्बन्ध की एकनिष्ठता प्रेम से उपजती है। लरिम्स की लेडी चैटरली नी सब बाधित पुष्प या जाती है, तब कहती है —
 "So I love chastity now because it is the peace that
 come of loving I love being chaste now I love it as
 snow-drops love the snow I love this chastity, which is the
 pause of peace of our loving, between us now like a snow drop
 of forked white fire— it is so good to be chaste like a
 river of cool water in my soul" ¹ नर-नारी 'मटकते' तब हैं जब
 वे इस प्रेम का मरते हैं, किन्तु उनका प्रेम छलना होता है। जो
 एक बार वास्तविक प्रेम का स्वाद या भेठा है वही घटकटा नहीं है।
 पुष्पका फिर कभी बोलीनारी के पास जाता नहीं है। उर्वरी के स्वयं जाने
 के बाद भी नहीं। हमारे बुद्ध की प्रत्यक्ष भावना शून्य-प्रत्यक्ष-भावना का
 इतना मजबूत आक्यान हमारी भाषा के किसी और कवि ने नहीं लिखा है।

लरिम्स ने 'सिमायी सेक्स' (Sex on board) की बड़ी निंदा की
 है। यह एक नयी का आविष्कार है। यह-सोप अपने बुद्धिजीवियों में देखा
 है। उन्होंने इसे समकालीन विज्ञान और संस्कृति के सचकों कलाकारों तथा
 नेताओं का बबर (Bohemian) समार कहा है। उनका कहना है कि सेक्स
 के बिना पीढ़ि में लोप है उठना समाज का और कोई भी बय नहीं।
 उनका कहना है कि इन लोगों में सेक्स इनके गतिन व भी अधिक मानसिक
 है और उनके शरीर की प्रत्यक्षता मूर्तों का तुलना में भी नहीं के बराबर
 है। ² लरिम्स इस प्रवृत्ति को आत्मा के विपक्ष किया गया पाप कहता है।
 ये लोग सेक्स के विषय में सोचते ही रहते हैं, वे ऐसा चाहते हैं कि सेक्स की
 मूर्ति करनी ही चाहिए। हमें कि वास्तविकता यह रहती है कि सेक्स उनमें
 नहीं ही नहीं है। उनका सेक्स बनावनी होता है। एक लोग सेक्स की
 बिना में इसलिए प्रवृत्त होते हैं कि वे सोचते हैं कि इनने ऐसा करने की
 धनशा की जाती है। जबकि धर्ममयन यह है कि यह मन है जो प्रामाण्य
 हाना है और शरीर को यह बनाए उत्तेजित करता है। लरिम्स कहता है कि
 हमारे पुत्रों ने सेक्स के साथ इनका व्यवहार किया है—विना सोचे-जमने

¹ Lady Chatterley's lover, 326

² A Propos, 79

या महसूस किए कि अब यह क्रिया यांत्रिक और भोवड़ी (dull) हो गई है। साहित्य में धरतीजता तो तब आती है जब मन शरीर से बरता और पूछा करता है और शरीर मन से जूझा करता है और उसका प्रतिपक्ष करता है।^१ दिनकर भी उर्बंसी में सभी धनवीं की जड़ मन को ही बतलाते हैं। उर्बंसी कुम्भमाकर कहती है “तन का काम प्रमृष्ट, लेकिन यह मन का काम भरत है।”^२ दिनकर ने हमारे युग में सेक्स की समस्या और धीन सम्बन्ध पर स्वयं विचार किया है। वे लिखते हैं “काम तन में तो रूढ़ा ही है, कभी-कभी उसका निवास मन में भी हो जाता है। तन का काम स्वाभाविक प्रवृत्ति किन्तु, मन का काम रोग है। यह भी कि तन के काम की आवश्यकता सीमित होती है किन्तु, मन का काम निस्सीम होता है। तन का काम अपनी आवश्यकता से घाबे नहीं बढ़ता किन्तु मन का काम उसका प्रतिस्पर्ध ही नहीं करता बल्कि नकली आवश्यकताओं को जन्म देता है।”^३ यह बात है उर्बंसी व भी बड़े कविस्वरूपों इन से कहते हैं—

‘तन का क्या अपराध जब वह तो लज्जामार प्रकृति का सीमित उसकी शक्ति और सीमित आवश्यकता है। यह तो मन ही है निवास जिसमें समस्त विषयों का बही ध्येय व्याकुल धसीम अपनी काल्पनिक दुवा है। हाँक-हाँक तन को उन जल को पलित बना देता है, विभिन्न होती फिरण धवोहर की जिस स्वच्छ-समिप्त में बिम पवित्र जल में समाधि के सहचार निमते हैं।’^४

दिनकर घाबे लिखते हैं ‘तन का काम बस में लावा जा सकता है किन्तु मन का काम काल्पनिक होम के कारण पकड़ में नहीं आता। मसम मराहुर है कि मन की अपेक्षा मन की कल्पना ध्विक मयानक होती है। सेक्स भी शरीर के धरातल पर साध्य किन्तु विधाय म पुन ‘जान पर प्रसाध्य हा जाता है और सभाज का इच्छिए कि धारीरिक प्रवृत्ति पर सभर राठ मगाकर बह विभायी सेक्स की कितनी धोखना है रूढ़ा है।’^५

१ Ibid, 89-90

२ उर्बंसी, २५

३ धर्म नैतिकता और विज्ञान १०

४ उर्बंसी ८२

५ धर्म नैतिकता और विज्ञान १०-६

कहना न हाया कि यह भाषा मरिच की है। उर्वशी का कवित्व चित्त की इसी कुल्लि से निकला है। यथा—

‘मन जब हो भासक काम से सभ्य भगवत् सुत्रों पर,
चित्त में भी उन्हीं मुक्तों की स्मृति आए फिरता है
विषम व्यथ फिर फिर, मधु-मरम भगवत् करने को
स्मृति-दृष्ट नहीं तो बसों से छन से बल से भी
उन्हीं काम से बलान्कार के पार बन्ध लेते हैं,
उन्हीं काम बुद्धि बानधी कित्ति बल जाता है।’

काम जब प्रवृत्ति में संचालित हो तब वह स्वाभाविक है, सम्पदा वह मनकर बन जाता है। एसी स्थिति में वह निमायी बन जाता है—*See in head* एतन् वादस्य ने सिद्धा है। इस प्रकार यौन अनुभूति की कामना माया है जबकि वह विमल पर हावी हो जबकि यह, एकदम एकाग्र और कल्पनिक सातवा हा जिसके प्रति शरीर की प्रतिक्रिया या ता अनिच्छित रूप से होती है या एकदम नहीं हावी है। मरिच का कहना है कि धात्र भोग प्रेम करने के लिए प्रेम करता है। इन मनोवृत्ति ने प्रेम का दूषित कर दिया है। धात्र का धात्री यौनिक रूप से प्रेम करता है। वह मिलती है, किन्तु धात्रा और मन हृद्वाचक करता रहे जाते हैं। निरकर कुम्भकार निकल है—

‘काम-वृत्त्य के सभी बुद्धि हैं, जिनके सम्पादन में मन धात्राएँ नहीं मान दो वप्रम मिला करते हैं या तब जहाँ विच्छिन्न प्रवृत्ति के विषय किया जाता है मुक्त पाने को नहीं कबल मन की विच्छा से जहाँ नही मिश्रित नर-नारी उस सहजाकर्षण से जैसे दो बीकियाँ पनामजित धा मिल जाती है पर मुक्त की लानुपना में छिन-छिने लस्कर से एक दूसरे का धात्रुम सम्प्राप्त किया करते हैं।’

१. उर्वशी ८४
२. उर्वशी ८४

कहीं-नहीं उर्बंसी में कवि कुछ ऐसी बातें कह गया है जो उसकी मौलिक मूल्य ही है, किन्तु सारिस्त्र के विचारों से उसकी समता है। यह समता ही है प्रभाव नहीं। सारिस्त्र मानता है कि सेक्स एक सर्वव्यापक शक्ति है। इसका अनुपयोग हो तो आध्यात्मिक बहुत ऊँचा उठ सकता है, दुस्प्रयोग होने पर पशु से भी हीन बन सकता है।^१ यही बात बिलकर भी कहते हैं पर निश्चय ही यह सारिस्त्र का प्रभाव नहीं—

‘काम बर्बाद काम ही पाप है काम किसी मानव को
उब साक सं गिरा हीन पशु-जंतु बना देता है।
और किसी मन में असीम सुखता की तृप्ति बनाकर
पहुँचा देता उसे किरण संवित शक्ति उब विचार पर।’^२

इसी प्रकार बिलकर कई जगह सारिस्त्र की तरह ही बात कह गए हैं। सारिस्त्र इस बात को एकदम बर्बाद कर देता है कि कला में सेक्स की अपील परस्त्रीय होती है।^३ उर्बंसी जो सेक्स के आकर्षण का केन्द्र है या विरमण नारी का प्रतीक है, आत्म-परिचय देती हुई कहती है—

‘मैं कला-वैतना का अनुभव प्रच्छन्न शीत
रेखाओं में प्रकट कर शरीर के उभार,
मनिमा तरंगित बलुनता, बीबिया लहर,
उन की प्रकाशिता रंगों में लिए उठती हूँ।’^४

सारिस्त्र न सिखा है कि सत्कार की आधी महान कविताएँ, बिना संगीत और कहानियाँ यौन-आकर्षण (Sex appeal) के कारण महान हैं।^५ उर्बंसी के आत्म-परिचय में बिलकर भी इस सत्य का धनावरण करते हैं —

‘मू मम का सब सजीव मात्र मेरे निस्सीम प्रणय का है,
सारी कविता प्रयमान एक मेरी वयसीक विषय का है।’^६

१ A Propos 69

२ उर्बंसी २४

३ A Propos 65

४ उर्बंसी ६७

५ A Propos 65

६ उर्बंसी ६७

सरिम्स पद्य में लिख रहा था भवत वह आधी रचनाओं की बात करता है। बिनकर, कविता की भाषा में बोध रहे हैं इसलिए 'बहु संगीतनाद' और 'सारी कविता' कहते हैं। अनुभूतिवां काम के गर्भ में पकती है और प्रत्यक्ष साहित्यकार एक ही रंग की बात सोच जाता है। ऐसा न होता तो बस भारत में तुलसीदास राम रास की कल्पना कर रहे थे उसी समय सर टॉमस मूर योरोप 'यूरोपिया' की कल्पना कैसे कर लेते ?

प्रेम में चीन समाज में, नर और नारी दोनों और से आदान प्रदान होता है। ऐसे क्षण में सरिम्स का कहना है कि कुछ नया हमारे व्यक्तित्व में प्रवेश करता है और कुछ पुराना बस रहता है। उसका कहना है कि वह सभी प्रकार के समाज में होता है, और तो और, समयानुसार सम्बन्ध में भी। नर से नारी की स्तुति प्राप्त होती है और नारी से नर कुछ लेकर अपने को सींचता है। बिनकर भी इस कुछ के आदान-प्रदान का अच्छी तरह समझते हैं—

‘वह प्रदान उस आत्म रूप का जिस विभुत्व नयन से
प्रवेष्ट करता है प्रेमी-पुरुष प्रिया के मन में।
मौन ग्रहण यह उन अपार सोमाघासी बिम्बों का
जो नारी से निकल पुरुष के मन में समा रहे हैं।’

जिसे बिनकर ने 'सोमाघासी बिम्ब' कहा है उसे सरिम्स ने (New-milambus) कहा है। वह आदान प्रदान ही सैक्स की शक्ति है।^१

हम कह चुके हैं कि सरिम्स बुद्धिवाद का विरोधी था। वह सभी वैज्ञानिकों का झूठ कहता था।^२ उसका यह मत अतिवाद की सीमा तक पहुँचा हुआ है। कबि कीदस ने एक बार शूटम को पब्लिशिंग दिशा था क्योंकि उसने इंग्रज धर्म की व्याख्या करने का अपराध किया था। उसी प्रकार सरिम्स भी

१ सर्वसी ६४

२ हमारी राय में इन पंक्तिओं की जो व्याख्या श्री कुमार विमल ने जानपीठ पत्रिका अक्टूबर २०६२ के पंक में फोरम सिद्धान्त के धारा पर की है वह यथार्थ है। श्री कुमार विमल का वह निबन्ध काफी अच्छा है।

३ Selected Letters II

प्रतिगम्य ज्ञान को तरजीह नहीं देता है क्योंकि इससे मनुष्य में विस्मय और अनुहस की भावना बढती है और उनकी सम्बेदना भोवती पड़ जाती है। ऐसा प्रावमी, स्वाभाविक है कि बुद्धि की तुलना में रक्त की पुकार को अधिक महत्व देया। भरिम्ब बड़ी आस्था से कहता है—'रबिर में बिरबास ही मेरा सबसे बड़ा धर्म है। योंस बुद्धि की तुलना में अधिक बलुर होता है। हमसोम अपन मन में गमती कर सकते हैं। लेकिन रबिर को अनुभव करता है जो बिरबास करता है, जो कहता है वह हमसा सब ही होता है।'१ दिमकर भी उतने ही बिरबास से कहते हैं—

'रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी क्योंकि बुद्धि सोचती और छोड़ित अनुभव करता है। निरी बुद्धि की निर्मितियाँ निष्प्राण हुषा करती हैं बिन्न और प्रतिमा इनमे जो जीवन बहराता है, वह मूर्कों से नहीं, पक्-पायाछों में पाया है कलाकार के अन्तर के हिलकोरे हुए रबिर से।'२

धर्म की तरह विवाह के विषय में भी बोरिस् के अपने सुचिहित मन हैं। उससे अनुसार 'बहु विवाह कोई विवाह नहीं है, जो रबिर का आदान प्रदान (correspondence) नहीं है। क्योंकि धारमा का मत्व रबिर ही है, साथ ही गहरी बलना का भी। यह रबिर है जिसके कारण हमारा अस्तित्व सुरुजित है और यह हृदय और यकृत है जिसके कारण हम जीत है प्रमते-किन्ते है यानी जिससे हमारा अस्तित्व बना हुआ है। यह तो गबिर ही है जिससे हमारा ज्ञान हमारी प्रकृति या अनुभूति सब एक और अ'बमाग्य है किसी सर्व या सेव में कोई बरार नहीं बनाई है इसलिय जब तक रबिर का रबिर से संयोग नहीं होता तब तक विवाह पूर्ण नहीं होता है। नर का रबिर और नारी के रबिर में सदा में ही पूषक बाधारे हैं, या बसी मिलाए नहीं जा सकते। विज्ञान से भी हम यह जानते हैं। लेकिन 'मीरिए ब ऐगी बा नदियाँ हैं जो हमारे समग्र जीवन को घेरे हुए हैं और ब्याह में यह बक पूरा हो जाता है और धेवन में ये दो नदियाँ एक दूसरे का

स्पर्श कर ताजगी प्रकाश करती हैं। हालाँकि ये न तो एक दूसरे में बिलीन होती हैं न एक दूसरे को अभिन्न करती हैं। हम यह जानते हैं। हमारा निम्न रुबिर का एक स्तम्भ है जो भारी के रुबिर की बाटी का भर दना है। नर के रुबिर की महान नदी भारी के रुबिर की महान नदी का स्पर्श करती है पूरी महारह तक तो भी कोई अपना किनारा नहीं तोड़ती है। मनी बम जानते हैं कि यह सबसे प्रयास सम्भव है।^१ सम्मोग की निबिड़ता का चित्रण करते हुए निम्नकर कविता की गरिमा में रुबिर निद्रा का ही प्राप्ति करते हुए सब कुछ कह जाते हैं—

धुति-गुट पर उत्तम स्वास का स्पर्श और शब्दों पर
रसना की गुदगुदी घटीपिठ निम के धौबिजाले में
रस-मात्री भटकती जैनसियों का सचरस्य स्वभा पर,
इस निगूढ़ कूजन का आशय बुद्धि समझ सकती है ?
उसे समझता रक्त एक कंठन जिसमें उठता है
किसी वृक्ष की कुनपी से धीचक सू जाने पर भी।^२

यूरोप में चिन्ता की यह बात फोसीवी उपन्यासकार फ्लाबेयर से ही आ गई थी। फोसीवी सबी में ही सेम्युएल बटलर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *The way of all flesh* लिखी। फ्लाबेयर ने लिखा है 'सत्य ऐश्वर्यता और यथार्थ एक ही चीज है। हमें यदि कोई उपदेश पढ़ना है तो वह पाँचों इन्द्रियों का उपदेश ही है। कुछ ऐसी ही बात *Transposed Heads* नामक उपन्यास में टॉमस मान भी कहता है—यह संसार ऐसा नहीं है कि आत्मा केवल आत्मा को प्यार करे और सौंदर्य केवल सौंदर्य को। आत्मा मोक्ष को पाना चाहती है और सौंदर्य भी आत्मा की ओर उड़ना चाहता है। प्रसिद्ध आधुनिक और कथाकार थॉर्न *Intimacy* नामक कहानी में लिखता है—'रक्त हमें बहाकर ले जाता है, यही तो जीवन है। हम न तो निश्चय करते हैं, न समझ सकते हैं बस अपने को केवल बहन के लिए छोड़ दे सकते हैं। अब तो यह है कि हमारे युग में बुद्धि के शीतल और कथ्या वर्णन और सम्बुद्धि के उष्ण और ग्रीक दर्शन में सर्वार्थ विना हुआ

है। ये सभी बिनाक यह विश्वास करते हैं कि वह आधमी मूर्ख है जो अपने उष्ण हृदय की पुकार की धबहेलगा कर ठंढे दिमाग की बात सुनता है। हमारे युग की भाषा रक्त की भाषा है और उसी की पुकार हमें सुननी चाहिए। रक्त की भाषा विश्वास की भाषा होती है और विश्वास की भाषा हमें भरमाती नहीं है। दिनकर कहते हैं—

‘पड़ो रक्त की भाषा को विश्वास करो हम सिपि का
यह भाषा यह सिपि मानस जो कभी न भरमायेगी
छमी बुद्धि की भीति जिसे सुख दुःख से भरे भुवन में
पाप बीछता वहाँ वहाँ सुन्दरता हुनस रही है,
और पुरख भय वहाँ वहाँ कंकाल कुसिध, काटे हैं।’

यह स्फास रसने की बात है कि बुद्धिवाद के प्रति यह एक दिनकर से लरिप्त भावि का पड़कर नहीं भाया है। भुरखेन में ही यह इष्टिकोण बढ़ा साफ उतरा है और इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि उस समय उन्होंने लरिप्त पड़ा था। हाँ, इतना धन्य है कि लरिप्त की बात भी उनकी अपनी भारा से उर्बंशी में आकर संगम पा सकी है।

उर्बंशी का रचयिता अपने रस की नई नतिक्ता का बड़ा प्रशंसक है। उसने यह प्रवास किया है कि काम का बर्म का बाधक समय देने का भ्रम दूर जाए। यह प्रवास हमारे युग में छोटे-बड़े धर्मक कवियों ने किया है, परन्तु, जिसने उसे समान वर हिन्दी कविता में यह नाम दिनकर ने किया है उतन बड़े समान वर किसी और कवि ने नहीं किया है। लरिप्त की ही तरह अन्धविश्वास की भी यही लक्ष्य है कि साग सक्क के विषय में स्पष्टता और ईमानदारी से छोड़ें। दिनकर का यदि यह प्रवास सफल हुआ तो अपने देश में, कम से कम हिन्दी भाषी क्षेत्र में वे नई नतिक्ता के नेता मान लिए जाएँगे।

रसल या प्रभाव

रसल के प्रम और नतिक्ता सम्बन्धी विचार उनकी पुस्तक ‘विवाह और नतिक्ता (Marriage & Morals) में सप्रहीत हैं। रसल नास्तिक और बुद्धिवादी चिन्तक हैं तथा पुरानी नतिक्ता के वे बद्धर विरोधी हैं।

प्राधुनिक युग में यौन सम्बन्धों की समस्या पर जल्दीन विस्तार से विचार किया है। निम्कर ने रसम को पढ़ा है और रसम के अनेक विचार उमर अपने विचार बन गए हैं। इस समस्या पर निम्कर ने जो चिन्तन और मनन किया है वह उनकी पुस्तक कम अतिवृत्ता और विज्ञान में समीक्षित है। निम्कर के अपने विचारों पर अनेक जगह रसम की छाया मिलती है।

रसम का कहना है कि वे अन्य मनुष्य निर्भू किसी प्रकार का नियम (Inhibition) नहीं रहता है सामान्यतया एक लारी से अनुत्प नहीं होता है। वे किसी एक व्यक्ति से प्रेम में उत्पन्न सकते हैं और कुछ वर्षों तक पहले प्रेम में डूबे भी रह सकते हैं पर कुछ दिनों के बाद वे यह महसूस करने लगते हैं कि यौन-व्यभिचय उनकी वासना की विधि बन जा जाता है और वह वे पुनरी वासना की प्राप्ति के लिए दूसरी इरियानी की ओर भाग उठाते हैं। रसम का कहना है कि नैतिकता का धार्मिक ध्यान रहने वाला लोग इस प्रकृति पर नियन्त्रण पा लेते हैं, परन्तु, इस प्रकृति के धर्मिक से इकार नहीं किया जा सकता है। हर पुरुष में यह प्रकृति बड़ी उत्कटता से उत्पत्ती है।^१

रसम का कहना है कि यौवनी प्रेम की मुख्य बात यह है कि प्रिय वस्तु की प्राप्ति धर्मिक कठिन हो पर प्रिय वस्तु धर्मिक मुख्यवान् है। ऐसी स्थिति में प्रेमी को प्रेमिका को पाने में बड़े प्रयत्न करने पड़ते हैं। कविता में यौन में, सुख-क्रीडा में, या धर्म किसी भी तरीके के बिना कि प्रेमिका रीति बनती है। जिस लारी को पाने में कठिनाई होती है रसम के अनुसार उसका मनोवैज्ञानिक मुख्य बड़ जाता है। दूसरे शब्दों में जिस लारी का पान में नर को कोई कठिनाई नहीं लगती पड़ती है वह प्रेम यौवनी प्रेम नहीं बन सकता है। निम्कर भी कहा कि यह मानते हैं कि प्रेम पूरी एवं अपरिचित का रोमांच चाहता है—

‘कौन कहे ? यह प्रेम हृदय की बहुत बड़ी उमरम है।

या धर्म जो दूर, लारी को धार्मिक चाहता मन है।

रसम ने जो पुरुष के दक्षिण भागधर्म का विस्तारण किया है, कुछ लारी भाषा में सरलिकर करती है—

१ Marriage & Morals 112

२ Marriage & Morals 56

३ उभरी, ३१।

‘उस पर भी नर में प्रकृति है शगु-अगु प्रकुमाने की
नयी-नयी प्रतिमाओं का निठ नया प्यार पाने की,
बरा में भाई हुई बस्तु से इसको तोप नहीं है
जीठ सिमा जिसको उससे भाग सतोप नहीं है ।’

उबरी में बिनकर पुरुष प्रकृति का बड़ा ही स्वच्छ बिस्तेपण उपस्थित
करत है । पुरुष शायद में विचसता है । वह एक बात पर ठहरन वाला प्राणी
नहीं होता है—

कर स्वर्ग से दूर स्वप्न मलमल नर को भाता है ।
छक कर जिसको भी न सका वह जल नर का भाता है ।
प्रीति में झुकते कुसुम पर प्रीति नहीं जपती है
जो पर पर बड़ गई बाँझी खीची वह सगती है ।^१

यह प्रश्न बेकार है कि पुरुष की यह प्रकृति अच्छी है या बुरी । यह
प्रकृति है इसे बदला नहीं जा सकता है । तब वह क्या उपाय है बिनासे
राम्यत्व को सुखी या सकल बनाया जा सकता है ? रमल का ‘इसका भी
मुस्ता मासूम है । नारी को चाहिए कि वह पुरुष को एकबारगी पूर्ण ममपण
कभी न करे । अपने पति से कुछ दूरी बने बनाए रखनी चाहिए । यानी नारी
को विवाह के बाद भी एक भावपण में प्रवृत्त रहना चाहिए । रमल ने कहा
है कि नारी को विवाह के बाद भी अम्पराबत गोपनीयता (Sphinx like
Secrecy) अपने आंतरिक विचारों और भावनाओं में बगठना चाहिए
कुछ दूर तक शारीरिक गोपनीयता भी ।^२ वैवाहिक जीवन की सफलता के
लिए यह एक आवश्यक शर्त है नहीं तो पुरुष नई हरियाली की ओर घाल
सटाने लग जाता है । सवनिका बीबीनरी को इमी कला का सफल देती है—

शगु-अगु प्रकृति दूरे छिपे फिर-फिर को चुम्बन सेक्टर
ल ममेट जो निज को प्रिय है शपिन शंठ में देकर
जो मग्ने के महस बाहु में उड़ी-उड़ी धापी हो
धीर बहुर भी मोट निमिर में इब इब जाली हो,

१ उबरी ३५ ।

२ वही ३५ ।

३ Marriage & Morals ६४ ।

प्रियतम को रख सके निमग्नित जो धनुषित के रस में,
पुण्य बड़े सुख से रहता है उस प्रमदा के बस में।^१

‘महूर सी लीट तिमिर में डूब डूब जाती हो’ की ध्वनना अपूर्व है। जैसे रंधकार से उठने वाली लहर धनकार में ही डूब जाती है उसी प्रकार तारी का रंधकार में हो पृथ्वी की ओर उन्मुख होना चाहिये और पुनः धनकार में ही अपने को समेट लेना चाहिये। प्रकाश से पुण्य का रामान्ध समाप्त हो जाता है। यह क्या रसने की बात है कि रोमांटिक प्रेम में प्रिय वस्तु सदात्त नहीं दिखलाई पड़ती है, वह एक इन्द्रधनुषी कृष्णता से ग्रास्यमान दिखलाई पड़ती है।^२ उसी रोमांटिक प्रेम से जालित होकर पुनरवा कहता है—

‘सत्य ही रहता नहीं यह ज्ञान
तुम कविता कुसुम या कामिनी हो।’^३

उर्बशी में दिनकर का सवेस यह है कि यौन-समायम के क्षणों में नर नारी में डूब जाता है और नारी नर में डूब जाती है। इस यौन-समायम की सम्मिश्रता से नर और नारी दोनों का एक तरह से पुनर्जन्म होता है। सेक्स अपने धाप में महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसकी सापेक्षता प्रेम से सिद्ध होती है। जीवन में जब कबन यौन क्षान्ति व्यापती है तब प्रेम ही इसके अनुप्य को मोच दिमाता है। सेक्स सारीरिक मिश्रण है किन्तु, सारी सारीरिक मिश्रण प्रेम नहीं होता है। उर्बशी का कवि जब निष्काम काम सुख को याद करता है तब उसका सवेस यह नहीं है कि सम्मान अनावश्यक है। ठीक इसके विपरीत सदान सुख का विश्रुत उसने बड़ी स्वच्छता से किया है। मातृत्व की भरम सफलता में ही वह नारीत्व की पूर्णता मानता है। परन्तु काम के मुख को वह इस धर्म में संतान उत्पन्न करने का सत्य नहीं मानता कि प्रेम के बिना भी तो सदान उत्पन्न हो जाती है। संतान यौन-समायम का परिणाम है, किन्तु यौन-समायम का भरम सत्य नर-नारी का शरीर, मन और आत्मा के बराबर पर एकाकार होना ही है। निष्काम की यही मोक्षित व्याख्या हो सकती है। बिना प्रेम के भी यम स्थापित हो सकता है,

१ उर्बशी ३२।

२ Marriage & Morals, ६४।

३ उर्बशी ३२।

जैसा कि बसात्कार में होता है। भ्रष्ट गर्भाधान काम-सुख का लक्ष्य नहीं है, वह एक परिणाम मात्र है।

और पुनः कामना कहो तो यद्यपि वह सुखकर है पर, निष्काम काम का धन्यमुक्त वह भी ध्येय नहीं है। निरुद्देश्य निष्काम काम-सुख की अन्ततः मारा में सत्ताओं अज्ञात भोक से आकर जिन जाती हैं बारि-वस्मरी में फूलों की निराकार के बूँद से स्वयं निकल पड़ने वाली जीवन की प्रतिमाओं की।^१

उर्बशीकार भी अस्तुतः मार्गस की ही तरह भर-भारी समायम में मोक्ष की कल्पना करता है।

उर्बशी प्रेम की अतीव्रियता का आस्थान है। इसी अर्थ में यह कामा-ध्याम की कविता है। यह प्रेम केवल शारीरिक मिलन नहीं है। यह शरीर अर्थ के आये क क्षितिज को भी छूता है।

शिल्प योजना

उर्बची का मूल प्रतिपादन काव्यात्मक है। किन्तु कवि ने इसे काव्य-नाटक (Vernacular-drama) का रूप दिया है।

काव्य-नाटक में कविता धनकरण मात्र नहीं होती है। यद्यपि यह है काव्य-नाटक में यदि कविता केवल सजावट हो बाहर से आरोपित हो कविता सुनकर केवल कविता सुनने जैसा ही आनन्द प्राप्त हो तो वह कविता अनावश्यक है। यहाँ तो कविता को अपनी अनिवार्यता नाटकीय दृष्टिकोण पर सिद्ध करनी ही पड़ती है।^१ नाटकीय प्रेम में कविता फिट कर देना और बात है और कविता का नाटकीय मोचित्व से युक्त होना और बात है। नाटकीय कविता (Dramatic Poetry) न तो नाटक के कार्य-व्यापार में बाधा डालती है और न उसे छिपित बनाती है। कविता जब सम्बन्ध नाटकीय होती है तो नाटक को तीव्रता और भी प्रबल हो जाती है। ऐसी कविता बाहरी सजावट और रसीली नहीं होती। वह तो नाटकीय स्थिति की विकसितता से उत्पन्न भाषा का ऐसी आवश्यक गठन होती है जहाँ केवल मन मग्न और पद्य के पारस्पर्य को परख नहीं पाता है। काव्य-नाटक में कविता जब इस ऊँचाई पर पहुँचती है तब इतनी समर्थ हो जाती है कि यथार्थ जीवन के सूक्ष्म तथ्य भी उसके द्वारा बड़ी कक्षात्मकता से व्यक्त होते हैं। रोक्सपियर के नाटकीय शिल्प की महिमा इस बात में है कि कविता के माध्यम से उल्लेख ऐसे तथ्यों को भी व्यक्त किया जो सामान्यतया कविता के विषय नहीं समझे जाते हैं। रोक्सपियर ने काव्यात्मक नाटक न लिखकर नाटकीय कविता ही लिखी और इतनी सफलता से लिखी कि पद्य में लिखे गए दृश्य और दृश्यों के श्रेष्ठतम नाटक भी गण्यता है कि केवल इसीलिए लिखे गए कि रोक्सपियर की महिमा के साथ भी समझ सकें कि वह समझ में कविता होती है।

सेक्सपियर जब अपने किसी नाटक में किसी काव्यात्मक पंक्ति या अनुच्छेद का समावेश करता है तो इससे न तो काव्य-व्यापार में बाधा होती है। और न वह पंक्ति या अनुच्छेद चरित्र-निरपेक्ष होते हैं। ठीक इसके विपरीत उससे कार्य-व्यापार और चरित्र दोनों को बल मिलता है। जब कि मैकबेथ इस बहुउद्देश्य वाक्यांश का प्रयोग करता है —

To-morrow and to-morrow and to-morrow,

या जब कि रात में अपने बूढ़े बबुर और मिर्चों के सामने घाबेनो यह स्मरणीय पंक्ति कहता है—

Keep up your bright swords for the due will rust them,

हम यह नहीं महसूस करते कि सेक्सपियर सुन्दर कविता में साक्ष्य है जब उसे किसी तरह नाटक में फिट करता है जबकि ऐसा भी नहीं सनता कि उसकी नाटकीय प्रेरणा समाप्त हो गई है और वह भरती के लिए कविता की ओर गया है। ये पंक्तियाँ विस्मयजनक हैं, साथ ही चरित्र के साथ उनका मेल बैठता है। मैकबेथ द्वारा कही गई पंक्ति एक ऐसे दुर्बल व्यक्ति की कविता व्यक्त करती है जो अपनी पत्नी द्वारा अपनी धम्ममनस्क कामना तथा पत्नी की महत्वाकांक्षा को पूरा करने के लिए विवश किया गया हो और जो अपनी पत्नी के भरने के बाव विप्लव में पड़ गया है। घाबेनो की पंक्ति में एक साथ ही व्यंग्य स्वाभिमान और निर्मीकता है। साथ ही सामानिकों को यह पता चल जाता है कि यह हस्य रात का है। यह विलम्ब उपसर्ग कविता की ही हो सकती है। पर यह नाटकीय कविता है जो नाटकीय स्थिति को तीव्रतम बना देती है।^१

उर्बंसी में कई जगह नाटकीय कविता का सफल प्रयोग कनि न किया है, किन्तु अधिकांश स्वतन्त्र कविता के विभास मात्र हैं। नाटक और काव्य की परस्पर स्पष्टी काव्य-नाटक की धारणा है। कविता नाटकीय होती है और नाटक वाक्यात्मक होता है। स्थिति ऐसी घायी है कि अपनी अमि व्यक्ति में नाटक कलात्मक बन जाता है। उर्बंसी में यह नाटकीय कविता अधिष्ठ नहीं है। कभी-कभी नचि ने यह विवशता दिखलाई है जिससे काव्य नाटक बमक उठता है यथा प्रथम अंक के प्रारम्भ में ही भूतमार कहता है—

‘सारी देह समेट निविड़ घासिघन में भरने को
गमन झोलकर बाँह बिभुष बगुचा पर मुका हुआ है ।’^१

इन पंक्तियों में गमन का बाँह झोलकर बगुचा पर मुका हुआ पुतरवा की
की धायामी प्रत्युप-सीमा को पूर्वाभासित करता है। रंगमंच पर इसका
प्रदर्शन बड़ा प्रभावशाली रहेगा। यह पंक्ति कहते हुए मूत्रधार वसंत की
हृन्मुम-विभा में गटी की घोर झुकेया। उर्बंसी का सारा कप्य इसी से स्पष्ट
हो जायगा। यह कविता है किन्तु नाटकीय कविता। इसी प्रकार प्रथम अंक
में जब धम्मराधों का वार्तालाप चल रहा है तब सहजस्य मेनका से
कहती है—

‘साधु ! साधु ! मेनके ‘गुम्हारा भी मन कहीं लँघा है ?
मिट्टी का मोहन काई घटर में धान बना है ?
तुम भी हो बन गई महीठन पर कपरी किसी की ?
किन्हीं मार्ग नयनों की रम-प्रतिमा उर्बंसी किसी की ?’^२

अंतिम पंक्ति में ‘उर्बंसी किसी की’ कह देने से सिधिल कथानक को एक
बल्का समता है और वह धामे बढ़ता है। सहजस्य के इसी कथन से रम्मा
उर्बंसी की कर्ष करती है और कथानक धामे बढ़ता है—

धरी ठीक तूत सहजस्ये ! धक्की धार दिसाई ।
धान हमारे साब यही उर्बंसी नहीं क्यों धाई ?’^३

इसी प्रकार तृतीय अंक के अंत में नाटकीय कविता का एक उत्कृष्ट
उदाहरण हम बड़ा है। उर्बंसी कहती है—

‘हिय-आठ सिल बम्परी-मुबारिह को देखो
पति को पुनों का नया हार पहनाती है,
कुंजों में जग्या है कम कोई इस कहीं
बन की प्रसन्न बिहवापति लोहर बाती है ।’^४

-
- १ उर्बंसी ५
२ वही ११
३ वही ११
४ वही, १०२

उर्मशी के इस कबल से अलग धंक में धातु के जन्म की सूचना मिलती ही है, रात भीत जान का भी गता जगता है। फिर यहाँ कविता भी बड़ी स्वच्छ है—

किन्तु, इस सभी उदाहरणों की तुलना में पञ्चम धंक में पुद्गरा के स्वप्न की योजना सबसे अधिक पाटकीय है और वह सम्पूर्ण प्रत्यक्ष नाटकीय कविता का उत्कृष्ट उदाहरण है। इस प्रकार के स्वप्न की योजना कोई धातु निक पुप का कवि ही कर सकता है। कामायनी में भी प्रसाद ने स्वप्न की योजना की है, किन्तु प्रसाद का सपना एक वर्षख है जिसमें धामामी बटना की प्रतिज्ञायामा बीक पड़ती है।

‘मन्ना का ना स्वप्न किन्तु वह उत्पन्न बना या
बड़ा संकुचित उच्चर प्रजा में शोभ बना या।’

परन्तु पुद्गरा का सारा स्वप्न प्रतीकारमक है। प्रतिष्ठानपुर के निवासियों का एक नया बट-यादव ने धाना और उसे रोपना धातु के गम्या रोहण का प्रतीक है। पुनः पुद्गरा भी सीर-बट लाकर बूझ है उस नवीन बिरबे की सीचना बाहूठा है। यह पुद्गरा के वात्सल्य प्रेम का प्रतीक है। किसी नागरिक की पुद्गरा की ओर इष्टि नहीं है। वह एक गरिष्ठ कुञ्जर पर चढ़कर प्रतिष्ठानपुर से बाहर एक कानन में पहुँच गया है और वहीं पहुँचने पर वह कुञ्जर भी उसे छोड़कर चला जाता है। यह पुद्गरा के धामामी सम्पास का प्रतीक है। अथर्व ही यह स्वप्न-योजना कामायनी की स्वप्न योजना की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है। पुद्गरा जब यह कहता है—

‘एकाकी निःसंग भटकता हुआ विभिन्न निर्जन में
जा पहुँचा मैं वहाँ जहाँ पर बसुमरा बहती है
अध्वनाधम के पान प्रलोभा की हमम्बु धारा थी।’

तब उर्मशी जवाबकर कहती है—

‘अध्वनाधम । हा । बस । धपाते
मुझे घूंट भर जल है ।’

१ कामायनी १६ ।

२ उर्मशी १३६ ।

३ वही १३६ ।

वह सब कवन बड़ा नाटकीय बन पड़ा है। पुनः आगे पुनरुवा कहता है—

दिना निधर उधर जाता टहनिवों कृष्णों पर
देवि ! आपका मही कुसुम आनन कममपा रहा था
हैसना हुआ प्रहृष्ट सत्य ही मद्य स्फुरित कमल-मा ।
किन्तु, हाय ! कुर्माय निधर भी बड़ा स्या करन को
दूब गया वह छसी पुष्प पत्तों की हरियामी में ।^१

यह अत्यन्त ही काव्यात्मक बर्युन है किन्तु साथ ही नाटकीय भी ।
पुनरुवा के इस कवन 'दूब गया वह छसी पुष्प पत्तों की हरियामी में' में उर्ध्वा
क पावी विद्युत्कन का स्पष्ट आभास है । इसके बाद पुनरुवा कहता है—

'चकिट भीत बिस्मिड अधीर सब मैं निरस्त भाषा से
अकस्मात् उड़ गया छोड़ अचर्णीतल उष्ण गगन में
झीर सरसा रहा न जाने कब तक आह कमल सा ।
बसा अन्त को जब विभावरी पूरी बीत चुकी बी ।'^२

उर्ध्वी में यह नाटकीय कविता का प्रत्य है । 'अकस्मात् उड़ गया छोड़
अचर्णीतल उष्ण गगन में' पुनरुवा की आध्यात्मिक उन्नत का प्रतीक है और
अन्त में 'जगा, अन्त को जब विभावरी पूरी बीत चुकी बी' प्रतीक-आश्रय
का चमत्कार है । यह पुनरुवा के अज्ञान क नाश और ज्ञान के प्रकाश में पहुँच
जान का प्रतीक है ।

किन्तु उर्ध्वी में नाटकीय कविता के ऊपर शिरे गए उदाहरण पिन
चुनकर ही दिए गए हैं । उर्ध्वी के अधिष्ठात स्वयं कुछ कविता के उदाहरण
हैं जो नाटक की रूढ़ पाठ से विच्छिन्न से लगते हैं । प्रथम धंक में अम्भराधों
का बाधाभाष और घुरे का घुरा तृतीय धंक अचर्णी कविता के उदाहरण है,
किन्तु, उन्हें नाटकीय दिमी भी तरह से नहीं कहा जा सकता । उर्ध्वी की
मिथ-योगना काव्यात्मक है, नाटकीय नहीं है ।

काव्य-नाटक की भाषा यथार्थक नहीं होती है, किन्तु, उसका आधार
सामान्य वाचकत्व की भाषा ही होती है । हम रंगमंच पर जाते पद्य का
प्रयोग करे जाते पद्य का किन्तु वे अपने आप में सामन्य भाषा हैं । यद्यपि और

१ उर्ध्वी ११७।

२ वही ११७ ।

पद्य की भाषा में जो साफ अंतर हम देखते हैं वह ऐसा नहीं है बल्कि हम समझते हैं। हमारी यह धारणा बन गई है कि पद्य की तुलना में पद्य की भाषा कृत्रिम होती है और सामान्य बोल-चाल की भाषा से अधिक दूर होती है। यह कबन अत्यन्त सहीर्ण अर्थ में ही ठीक है। समकालीन पद्य की भाषा बोलचाल की भाषा से अधिक निकट हो सकती है किन्तु बाद वाली पीढ़ी के लिए वह भी उतनी ही कृत्रिम होती है जितनी कि पद्य की भाषा हो सकती है। बनब रॉ के नाटक अपने युग के लिए बोल-चाल की भाषा के निकट है, किन्तु, बाद वाली शताब्दी में वह भाषा भी बनावटी ही लगेगी। पद्य की भाषा भी बाद की पीढ़ी में पद्य की ही भाषा की तरह अत्यन्त और बोलचाल की भाषा से उतनी ही दूर लगेगी जाती है। इसलिए, बल्कि कि एलियट ने कहा है, रंगमंच पर पद्य भी उतना ही कृत्रिम होता है जितना कि पद्य। धनबा जो कहा जा सकता है कि पद्य भी पद्य की ही तरह असंगत हो सकता है।'

दर्शकों पर नाटक और उसकी भाषा का अभिप्राय प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। प्रसार के नाटकों की भाषा का यह दोष नहीं है कि वह काल्पनिक है बल्कि यह कि वह भाषा नाटक के समस्त प्रभाव से भिन्न असर डालती है। प्रसार के नाटकों की भाषा अपने समय की बोलचाल की भाषा से एकदम भिन्न है। वह भाषा बनावटी है। इसलिए सामाजिक पर उसका जो प्रभाव पड़ता है वह चौकाने वाला प्रभाव है। भाषा एक माध्यम है उसका प्रभाव अत्यन्त गहरी होना चाहिए। इसीलिए प्रसार के नाटक और कुछ नहीं तो भाषा की दृष्टि से भी कलात्मक स्तर पर असफल हैं। सर्वेपी में भाषा असंगत नहीं है। धनबा जो स्वयं पर छत्रों की बकबकती मन चित्र कर देती है। भाषा कवि ने पुस्तक से ली है जीवन से कम। सर्वेपी में जो ही स्वयं पर भाषा का महत्व रूप दिखलाई पड़ता है—एक पृष्ठ ४८ से प्रारम्भ होने वाले पुरुरवा के बक्तव्य में और दूसरा ६४ पृष्ठ से प्रारम्भ होने वाले सर्वेपी के पद्य में। और ये दो स्थान भाषा की दृष्टि से इतने सहज इतने सफल इतने प्रभावशाली हैं कि इन्हें हम आधुनिक काव्य के श्रेष्ठतम उदाहरणों के रूप में उपस्थित कर सकते हैं।

इन दो जगहों पर भाषा का कवित्व बनावटी नहीं है। कवि वहाँ सहज

ही परम्परा मुक्त छन्दों की कारा से निवृत्त कर स्वच्छन्द छन्द की भूमि में विचरसु कर सका है। भाव के मनुष्य के छविज प्रक्षिप्त धीरे दूटे हुए मन को बांधने के लिए यांत्रिक छंद नहीं चाहिए। दूटे हुए मन को बांधने के लिए टूटा हुआ छंद चाहिए। सतत बर्बनधीस बहारा पुराने छंदों की सीमित यति-गति में नहीं बाँधा जा सकता। राष्ट्र में जब नई चेतना का ज्वालन धारा है तब मुक्त छन्द की पदावली स्वयं होती है। काल-वैभवा के यम से छंद भी जन्मता है। समरीका में जब नए राष्ट्र का उदय हुआ तब वाल्ट व्हिटमैन आए। उनके छंदों की स्वच्छंदता में वस्तुतः नए राष्ट्र की स्वच्छंद चेतना थी। हमारे देश में भी इस शताब्दी में जब नया राष्ट्र जन्मन गया तब निराला के हृदय में स्वच्छंदता आई। उर्बंशी में वो स्पर्शों पर छंदों की स्वच्छंदता धनुषि की तीव्रता का प्रमाण है। और यहाँ पर कवि ममय्य कलात्मकता के बावजूद बाल बाबु की भाषा से बहुत दूर नहीं है। 'कौन है मनुष्य इस में भी नहीं पहचानता है' पंक्ति गद्य में भी सगमग इसी तरह बही जाती। इस यांत्रिक न यांत्रिक कालिदास पद्य बनाम के लिए 'कौन मनुष्य है इस तरह भिला या कहा जा सकता है। 'याग है कोई नहीं जो पाठ होती' को गद्य बनाने के लिए 'कोई याग है जो पाठ नहीं होती' में किंचित परिवर्तन ही पंक्ति है। इन कथना को हृदय से भर कर निचोड़ा एकदम कालिदास गद्य है। यही गद्य और कविता के बीच का बात प्रतिष्ठान है जिसे एमिस्ट ने साहित्य की प्राण-बत्ता के लिए अनिवार्य बतलाया है। किन्तु, यही स्तर उर्बंशी में तब जगह नहीं है। यदि दिनकर इन दो स्पर्शों की तरह उर्बंशी में कविता का स्तर तब जगह एक समान रत्न पाठ तो निरर्थक ही वह एक ऐसी दृष्टि बन जाती जिसे पाकर कोई भी भाषा निहाल हो उठती।

उर्बंशी की तुलना में 'अंधायुग' का पद्य-कीर्तन धन्य है। 'अंधायुग' की तुलना में उर्बंशी का पद्य-नाटक बाला रूप धारोपित सा लगता है। अंधायुग में कविता हर जगह गद्य से उठी है। कई जगह वह पद्यज्ज मदर्शी है किन्तु गद्य है नहीं। 'अंधायुग' में भारती का स्वर भारतीय है। यह भाषा हमें बहुत परिचित सी लगती है यथा—

प्रहरी २ धँब राजा की प्रजा कहाँ तक देखे ?

दीन नहीं पड़ता कुछ

ही पापक बाइस है

उर्बशी : उपसम्पन्न और सीमा

प्रहरी २ 'बादल नहीं हैं
ये गिर रहे हैं
साँसों कराड़ों पाँवों लोले'

×

×

×

प्रहरी ३ 'झुक जाओ झुक जाओ
हालों के नीचे छिप जाओ
नर नरसी हैं ये गिर रहे हैं।'

भाष्यी ने समग्र 'संवायु' में गद्य की भाषा को ही कविता के बराबर पर ऊर्ध्वपातित किया है। ठीक इसके विपरीत उर्बशी में बिनकर की भाषा बनाबटी है। पुस्तकीय है। 'संवायु' में बर्मबीर भारती का चित्र बहुत सधा हुआ है। उसका एक भी छंद एक भी कारण निष्प्रयोजन नहीं है। उदाहरण के लिए उर्बशी और 'संवायु' के कोरस की तुलना की जा सकती है। उर्बशी के प्रथम छंद में चत्तरासों के दो समस्त पान हैं। समग्र कथा के विकास में उनका प्रयोजन कुछ भी नहीं है। किन्तु, 'संवायु' में भाष्यी ने जो कई जगह कथा-गायन की योजना की है वे समग्र कथानक के अनिवार्य अंग हैं। प्रथम छंद का प्रारम्भिक कथा-गायन हमें कथा की पुष्ट भूमि से परिचय कराता है—

'यह महायुद्ध के अंतिम दिन की संख्या
है छापी चारों ओर जवाही गहरी
बीरव के महलों का सुना पल्लवार
है बूम रहे केवल दो बूँदें प्रहरी'

यह कथा-गायन न केवल कथा वस्तु से हमारा परिचय ही कराता है बल्कि बातावरण की मानिकता को तीव्र भी बना देता है। बिनकर का चित्र कथानक की इतनी अनिवार्यता उत्पन्न नहीं है। कथोपकथन नाटक की कसौटी है। येष्ट नाटककार स्वाभाविक कथोपकथन मिलता है। नाटक माहित्य की सभी विधाओं की तुलना में सबसे अनिवार्यकारी कथा है।

१ संवायु १४

२ वही १४

३ वही, १२

रंगमंच पर ऐसा कुछ ठहर ही नहीं सकता जो बहुत बनावटी है। हमने व्याख्यात नाटक के विषय नहीं हो सकते। कथोपकथन में सुरुमम भाव स्पष्ट है। 'पंचा-युग' के कथोपकथन बड़े सुख हैं। उनकी सफ़सला का एक रहस्य यह भी है। विनकर को कथोपकथन सिखाने का धरुन नहीं है। इस दोष ने उनकी कृतियों के कसारायक स्तर को सति-सुसि किया है। 'कुरलेन' में वे इसी व्याप्ति से सुसि हैं। इसी दोष को सर्वसी ने अनभिनेय बना दिया है। मैथिलीसरण पुन की धान बाहे बिदनी धानोचना की धान किन्तु, वे कथोपकथन के बावसाह हैं। उनके काव्यों की लोचप्रियता का एक रहस्य यह भी है, बिदका उल्लेस करना हिन्दी के धानोचक प्रविष्टा की बाध नहीं समझते हैं। उनके बाध इस सेन में बिदसलता धर्मवीर माप्टी ने ही बिदबाई। उर्वसी में कथोपकथन धीनपायी है। पृष्ठ ७७ में प्रारम्भ होने वाला उर्वसी का पद्य पद्य पृष्ठों का है। पृष्ठ ४८ से प्रारम्भ होने वाला पुनरुद्धा का व्याख्यात धाठ पृष्ठों का है। पुन पृष्ठ ९४ से प्रारम्भ होने वाला उर्वसी का कलम्य पांच पृष्ठों का है। हम नहीं बाह कर भी धी देवी सकर धनस्त्री की इन पदियों को उल्लेख करन का सोम धनरण नहीं कर सकते—'पदते-पदते ऐसा लगता रहा है कि सामने माइ कोकोन बकर रनबा है और धामने-सामने दो कोटियों पर उर्वसी धीर पुनरुद्धा बड़े हाकर अपने धमि-बिस्तारक बना पर धारा प्रबाह बोमटे धने बा रहे हैं, धनरयकता पद जाती तो कामाध्यातम ही नहीं। इस भक्ति एवं राष्ट्रीय संकट पर भी इसी गति से बोल बाते।' धनस्त्री की के कथन में देश भक्ति एवं राष्ट्रीय संकट की बर्बा धनारयक की बीकरी है पर वह सतावरमक है नहीं। धनरय ही उनका संकेत 'हूकार' की कविताएँ और 'परसुराम की अवीका' से है। इस रंग की कविताओं ने ही विनकर की धानस विमाक भी है।

परि कोई नाटक पद्य में लिखा जाता है तो पद्य समग्र नाटक में धानलाधों को धान्य करने का धान्य होता है न कि एक कथारक। नूदरे धानों में नाटक में धनुनृति को पकड़ने का धान्यम कविता बन जाती है और बिन्ध धी कि कसारायक धापा का धनरिधायन धन है एकधम सप्रयोजन (Functional) होता है। उर्वसी में कामाध्यातम की उपलब्धि का धान्यम

बिम्ब-योजना को भी बनाया गया है। कवि जब वैदिक प्राचीन की बात करता है तब बिम्ब सौम्य होते हैं, पार्थिव होते हैं। किन्तु जब पुरुरवा में वह की सीमा स्नेहमय न बिलाने लग जाती है और वह धार्मिक तृप्ति से बेचैन हो जाता है तब बिम्ब-योजना भी अपार्थिव हो जाती है। धार्मिक तृप्ति के क्षण में कवि पार्थिव परिधि से बहुत दूर जाता है और कॉस्मिक (Cosmic) बिम्ब की योजना करता है। नारी का सामिप्य पुरुरवा को बासना की तृप्ति से बेचैन कर देता है। इस बात को दिनकर सरोवर और बल्लभ के बिम्ब से व्यक्त करते हैं—

पर सरोवर के किनारे कंठ में जो लज रही है
उस तृप्ति उस बेचैन को जानता है।^१

दिनकर ने यहाँ बल्लभ और व्यास के बिम्बों की कड़ी लगा दी है। उर्बेची न अपूर्व बिम्ब (Recurrent Image) तो कई जगह है किन्तु उसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण पृष्ठ ४८ से आरम्भ होने वाले पुरुरवा के बल्लभ में ही मिलता है। पहले हम बल्लभ-व्यास मिटाने के साधन को लें। सरोवर, सुधा रस के पात्र पैव भोजन बल्लभ बल्लभ पुन किया स्वल्प बूट या बो बूट—दिनकर ने इतनी वस्तुओं का उल्लेख किया है। बिम्बना तो यह है कि सुधा सरोवर और फिर बल्लभ तब भी जब व्यासों पीने जाता है तो पूट या बो बूट पीकर ही रह जाता है। धार्मिक अनुपम के धार्मिक संघर्ष का इससे अच्छा वर्णन हमारे साहित्य के किसी और कवि ने नहीं किया है—

किन्तु रस के पात्र पर ज्यों ही लगाता है बल्लभ को
पूट या बो बूट पीते ही
न जान किस भस्म से नाव यह धावा
'धमी तक भी न समझा ?
हृष्टि का जा पैव है, वह रस का भोजन नहीं है
रस की व्यासना का मार्ग धार्मिक नहीं है।'^२

यहाँ 'रस का भोजन' की पूरी प्रशंसा नहीं की जा सकती। यह तो

उबड़ी उपसर्ग और सीमा

विम्ब-योजना को भी बनाया गया है। कवि जब ऐहिक वास्तविकता की ब
करता है तब विम्ब लौकिक होते हैं, पार्थिव होते हैं। किन्तु, जब पुररवा
वह की सीमा मूल्यन में बिसाने सम जाती है और वह आध्यात्मिक तृप्ति
बनने हो जाता है तब विम्ब-योजना भी अपार्थिव हो जाती है। आध्यात्मिक
तृप्ति के क्षण में कवि पार्थिव परिधि से बहुत दूर चला जाता है और
कॉस्मिक (Cosmic) विम्ब की योजना करता है। गरी का साप्तिम्य
पुररवा को वासना की तृप्ति से बेचैन कर देता है। इस बात को स्मिन्कर
सरोवर और जलन के विम्ब से व्यक्त करते हैं—

‘पर सरोवर के किनारे कंठ में जो जल रही है
उस तृप्ति उस बेचना को जानता है।’^१

स्मिन्कर ने यहाँ मूल और व्यास के विम्बों की मझी मया भी है।
उबड़ी में आवृत्त विम्ब (Recurrent image) तो कई जगह है किन्तु,
उसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण पुच्छ ४८ से प्रारम्भ होने वाले पुररवा के बहस्य
में ही मिलता है। पहले हम मूल-व्यास मिटाने के साधन को लें। सरोवर,
मुखा रस के पात्र पेय भोजन जलनि क्षर पुन किया स्वल्प बूट या
बो बूट—स्मिन्कर ने इसनी वस्तुओं का उल्लेख किया है। विदग्धना तो
यह है कि मुखा सरोवर और फिर जलनि तब भी जब धावनी पीन जाता
है तो मूल या बो बूट पीकर ही रह जाता है। प्राकृतिक मनुष्य के प्राप्ति
रिक्त स्वर्ण का इससे अच्छा वर्णन हमारे साहित्य के किसी और कवि ने
नहीं किया है—

किन्तु, रस के पात्र पर क्यों ही मयाता है क्षर को
बूट या बो बूट पीते ही
न जाने किस क्षण से नाह यह धावा
धनी तक भी न समझा ?
दृष्टि का जो पय है, वह रस का भोजन नहीं है
रूप की धारणा का मार्ग पार्थिव नहीं है।^२

यहाँ ‘रस का भोजन’ की पूरी प्रयत्ना नहीं की जा सकती। यह तो

१ उबड़ी ४८

२ उबड़ी ४९

यही कुछ भी अपायित्व नहीं है, जब धीरे यही पुष्प फूल धीरे दूध राग्या कुंज-मंदिर, एकांत मरुप युवती और युवक य सब एक क्रम से प्रत्येक का रहस्य साधत हैं। प्रणय आकाश में नहीं हो सकता इसलिए जब धीरे यही का उत्सव करीब करता है। पुष्प, फूल और दूध य उद्दीपन है। कुंज-मंदिर और एकांत मरुप सहृदय स्थल है जहाँ प्रणय का व्यापार चलता है। युवती और 'युवक' आत्मजन और आश्रय हैं। इस प्रकार दिनकर केवल दिव्य-याचना के द्वारा ही काम और अभ्यास—अन्ततः कामाभ्यास—को स्पष्ट कर रहे हैं।

आदमी बासना के तिमिर-मूढ़ से एक क्षण भी अपने को मुक्त नहीं कर पाता है। नींद में भी बासना उसकी बाँह नहीं छोड़ती। पहरी बार में जब बेचना दूध जाती है तब धनचतन आदमी को उद्दिष्ट बनाय रहता है। आदमी ज्यों ही सोकर उठता है त्योंही यह चिरतन वृष्णा हाबिर हा जाती है। इस बात का दिनकर न कितनी कसात्मकता से कहा है—

किन्तु, जगकर बसता है

कामनार्थ वसिका-सी बस रही है

जिस तरह पहल पिपासा से बिकल भी

प्यास से आकुल बनी भी बस रही है।

रात भर, मानों उगड़े बीपक-सदृश बसना पड़ा हो

नींद में मानों किसी मरुदेश में बसना पड़ा हो।^१

आदमी बासना में बसता है इसलिए दिनकर बीपक और 'वसिका' के समान बसना की बात कहते हैं। पुनः मरुदेश में बसना बास पक्षिक की मृषा कभी बात नहीं होती है। उसी प्रकार नींद में बासना की बसना भी मिटती नहीं है। जगन पर भी वही पुहार लगी रहती है। इसी बात को नींद में मानों किसी मरुदेश में बसना पड़ा हो—यह पक्षि कितनी स्पष्टता से व्यक्त करती है। आदमी का भाव भी विविध है। नींद में मरुदेश की प्यास और जगन पर हरबाजे पर लड़ा धुबित-मृगिणी और फिर खपिर में रेंव बाल सोन के साथ। आदमी करे तो क्या करे? अपने खपिर और मांस को वह कहाँ फेंक देगा ?

सम्भ्रित-योजना है। भसा धूम्र में भी कोई रेखा खींची जा सकती है। तो भी यह कितना सच है कि धूम्र में खींची गई रेखा धूम्र पर खींची गई रेखा से अधिक स्पष्ट होती है। कम से कम प्राथमी ऐसा मानता है। दिनकर पुरुरवा की धार्मिकता को बड़ी सफाई से व्यक्त कर सके हैं। यही वह भाषा है जिसे देखकर यह बात पक्की होती है कि धनुषी की प्रकृति केवल कविता में ही व्यक्त की जा सकती है।

यह धार्मिकता उद्गम बन्द नहीं होती है और इसीलिए विन्धु योजना भी अपारिणत ही बनी रहती है। पुरुरवा कहता है—“पर वहाँ तक भी उद्गम” इस प्रश्न का उत्तर नहीं है।

मुक्ति महाकाष्ठ में छहरे कहीं पर ? धूम्र है सब ।
धीर नीचे भी नहीं लगेप,
मिट्टी के हृदय से
दूर होता ही कभी धम्मर नहीं है ।^१

इन शक्तियों में महाकाष्ठ ‘धूम्र’ और धम्मर’ अपारिणत विन्धु हैं। जिया उद्गम (उद्गम) है। वह जिया भी मिट्टी से ऊपर उठने की ही बात कहती है। फिर धाने कवि धाकाष्ठ की निस्सीमता और वचन की धूम्रता की बात कहता है। कहना न होना कि ये सब धार्मिकता सत्य (Metaphysical reality) धर्मका अपारिणत सत्य (extra-terrestrial reality) को बड़ी स्पष्टता से व्यक्त करते हैं। इसके बाद पुरुरवा की धार्मिकता उद्गम बन्द हो जाती है और वह पुनः वैदिक-धार्मिक में डूब जाता है। परिणामतः विन्धु-योजना एकदम अपारिणत और धार्मिक हो उठती है।

‘धीर हलने में बही का गान फिर देता मुवायी
हम वही जय है जहाँ पर धूम्र लिसते हैं ।
दूर है सच्चा हमारे देवता की,
धूम्र के वे कृष्ण धम्मर हैं
जहाँ धीतल हरित एकांत बंदप में प्रकृति के
कटकित मुक्ती-धूम्र स्वर्ण विसते हैं ।^२

यही कुछ भी अपावित्र नहीं है, जग और मही पुष्प फूल और दूब
सध्या कुंज-मंदिर एकांत मंडप युवती और युवक ये सब एक कम से
प्रणय का रहस्य खोसत हैं। प्रणय आकाश में नहीं हो सकता इसलिए
जग और मही का उत्सल कवि करता है। पुष्प, फूल और दूब ये उद्दीपन
हैं। कुंज-मंदिर और एकांत मंडप स्रष्ट स्वप्न हैं जहाँ प्रणय का आधार
पलता है। 'युवती' और 'युवक' आसम्भन और धामय हैं। इस प्रकार
दिनकर केवल चित्त-योजना के द्वारा ही काम और अध्यात्म—अन्तर्-
कामाध्यात्म—को स्पष्ट कर देते हैं।

आदमी वासना के तिमिर-म्यूह से एक क्षण भी अपने को मुक्त नहीं
कर पाता है। नींद में भी वासना उसकी बाँह नहीं छोड़ती। पहरी नींद में
जब बेतना दूब जाती है तब अव्यक्त आदमी को उद्दिप्त बनाये रहता है।
आदमी ज्यों ही सोकर उठता है त्योंही यह चिरतन पुच्छा हाजिर हो
जाती है। इस बात का दिनकर ने कितनी कसावदता से कहा है—

किन्तु, जगकर देखता है

कामनाएँ बतिका-सी बल रही हैं

जिस तरह पक्षि पिपासा से बिकस की

प्यास से आकुल समी भी बल रही हैं।

रात भर, मानों उन्हें बीपक-सदृश जलना पड़ा हो

नींद में मानों किसी मरुस्थ में जलना पड़ा हो।"

आदमी वासना में जसता है इसलिए दिनकर 'बीपक' और 'बतिका'
के समान जलन की बात कहते हैं। पुन मरुस्थ में चलन वाले पक्षि की
सुपा कमी घांत नहीं होती है। उसी प्रकार नींद में वासना की जलन भी
मिटती नहीं है। अपने पर भी बही गुहार लगी रहती है। इसी बात को
नींद में मानों किसी मरुस्थ में जलना पड़ा हो—यह पक्षि कितनी
स्वच्छता से व्यक्त करती है। आदमी का भाग्य भी विविध है। नींद में
मरुस्थ की यात्रा और जगन पर सरबाज पर खड़ा धुधित-ध्रुविधि और
फिर श्चिर में रैन बाल सोने के साँप। आदमी करे तो क्या करे ? अपने
श्चिर और माघ को वह कहाँ जँक देगा ?

उर्वशी : उपसमिति और सीमा

फिर भ्रातृ कोई प्रतिनिधि धानाज देता
फिर घर-घुट खोजने लगे घर को
कामना पूरकर लक्ष्य को फिर जमाती है,
रंगने लगे सहस्रों साँप छोले के शिर में
सेवना रस की महर में डूब जाती है।^१

सुविष्ट कोई प्रतिनिधि की क्या व्याख्या की जाए ? यह महा सरस्वती
का वन्दन है। 'प्रतिनिधि' उसे कहते हैं जिसके धाने की कोई छिपि नहीं
होती। वास्तव में वापसी इसको कौन बतल सकता है ? इसलिए वह
प्रतिनिधि है। प्रतिनिधि का विवेचन कोई है। वह स्वामी नहीं जानता कि
वह प्रतिनिधि कौन है ? वास्तव का स्वयं भी अस्पष्ट होता है। कोई की
यही साबित करता है। 'सुविष्ट' तो वास्तव का वन्दन है। जब कोई 'सुविष्ट
प्रतिनिधि' धानाज देता है, तब घर-घुट घर को खोजने ही लगे हैं। इस
प्रकार प्रकर वास्तव की प्रतिनिधित्व बनाकर ने साबित किम्व-बोझना से की
है। उर्वशी के ये ही वन्दन धानाज काव्य के सबसे ऊँचे छिपते हैं और
कामायनी के लज्जा रस के साथ हिन्दी का पाठक इसे भी बार-बार पढ़ता
रहेगा। इन स्वयं ने बनाकर वास्तव प्रतिनिधि स्थापित करने में एकजुट
सफल रहे हैं।

उर्वशी को बनाकर ने जो काव्य-नाटक का रूप दिया है उसकी इसके
सिवा और कोई यौक्तिक व्याख्या नहीं की जा सकती कि वह कालिदास का
प्रभाव है। स्पष्ट ही नाटक बीछ है, कविता प्रमुख समग्र नाटक में नाटकीय
स्वयं कम ही है। उपवास है तो प्रथम प्रकृ जहाँ नाटकीयता प्रचुर है।
समग्र नाटक में चरित्र का विकास भी नहीं के बराबर है। प्रथम दो प्रकां
का कार्य उक्त स्थिति का गुमावा करता है जो तृतीय प्रकृ का प्रतिपाद है।
इस दृष्टि से प्रथम दो प्रकां को मुख्यांश माना कहा जा सकता है। उर्वशी
की आत्मा तृतीय प्रकृ है जो नाटक नहीं कविता ही है। भी उर्वशी प्रभाव
विशेषी के चरित्रों में—तृतीय प्रकृ कवि के समाधिस्थ चित्त की देव है। अन्य
मह-धुमककर का वर्णन का निमित्त बनता है, भाषा मुख सचिका की
विशेषी पर बीछी रखी है, कल्पना बनायास विपणित निन्दरणी की

भाति रूप और छन्द की व्यवस्था करनी रहती है और उस्ताद मुकर कवि पदों के पीछे बैठा हुआ मूकधार की भांति पुस्तकियों को नचाता रहता है। कवि के मनोबल के अत्यन्त निमृग कल म बैठे हुए बिचार स्वयमेव ऊपर भाते जाते हैं। उर्बशी का तृतीय अंक कवि के प्राणों का मेहरवर उसका समग्र रस आत्मसात् करके निकली हुई काव्यमत्ता का सर्वाधिक कमनीय कुसुम है—रसीक भावक सामका।^१ उर्बशी की मरभेष्ट उपलब्धि तृतीय अंक है और तृतीय अंक की महिमा कविता की महिमा है। यदि कवित्व का यह प्रकय यहाँ न होता तो दिनकर के माध्यम ईर्ष्या करम का कोई कारण नहीं होता। तृतीय अंक का धन भी बड़ा कलात्मक है। सुबह हो गई है सभी छक-बितक समित हो गए हैं, साम बीत गया है—बहु धास जिसे प्रेम में मत प्रेमी-युगलों ने गज-भावन परबत पर बिताया। यह उनकी एक रात है—एक वष। पाठक पुनरुक्त और उर्बशी के साथ तृतीय अंक में एक कामहीन देश में पहुँच जाता है जिसके भावान् मौल्य्य प्रेम और ऊँची बौद्धिकता हैं। हिन्दी कविता के पाठक का औल्य्य प्रेम और ऊँची बौद्धिकता के समन्वय का रस भेज का यह पहला अवसर मिला है। उर्बशी का बीया अंक मुख्य बारा नहीं है। वह बारा एक तट है।

उर्बशी का रचयिता एक प्रतिभाशाली कवि है। किन्तु, उर्बशी को पढ़कर ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि वह नाटकीय चित्र पर भी उठना ही अधिकार रखता है। उर्बशी में नाटक और कविता एक दूसरे से कटराते हैं। दूसरे धर्मों में उर्बशी की कविता सजावट और रसीली है। वह नाटक का अपरिहार्य अंग नहीं है। कहीं-कहीं प्रतिभा का प्रखर विस्फोट होता है लासकर विम्व यानना में। कहीं-कहीं नाटकीय कविता भी कवि अन्ध्र लिख गया है। यहाँ तक कि अत्यन्त स्पृष्ट तथ्य भी वह कविता के माध्यम से कह गया है जैसे विद्वन्मत्ता-न्योतिपी का प्रश्रव्या योग का वर्णन करना। न्योतिपी के यरिष्ठ तथ्यों को बिलकर बड़ी सफलता में कविता में पका चुके हैं। किन्तु समग्र रूप में उर्बशी का नाटकीय चित्र चित्रित और विगुत्त है। हमारी राय में यह दिनकर की प्रतिभा की सीमा है।

नाद, क्रिया और प्रतिक्रिया

पुरुषवा : क्रिया

दिनकर का पुरुषवा एक राधा और बीर नहीं है, वह तो मान कवि और प्रेमी है।

सिद्धान्तदासीन कवि-सम्राट की परिकल्पना पश्चिम में केक्सपियर ने अपने नाटक 'रिचार्ड द्वितीय' में और रैमन ने अपनी पुस्तक 'एस्वी माइस्ट' में की है। इन दो कृतियों को पढ़ने से कवि-सम्राट के सम्बन्ध में हमें बहिष्करी विचार-धारा का पता चलता है। पश्चिम की विचार-धारा यह मानती है कि एक ही व्यक्तिव में कवि और सम्राट का सम्मेलन होना एक व्यक्तिव है। जिन पुण्यों के कारण वह व्यक्ति कवि की मज्जीपा से संपन्न है, वे ही पुण्य उसके सम्राट के लिए बाधक हैं। ठीक इसके विपरीत भारत में पहले कालों में अपने 'विष्णुमोक्षदीप' में और अब दिनकर ने 'उर्वशी' में जिस पुरुषवा का निर्माण किया है। वह सिद्धान्तदासीन एक दायोग्य व्यक्ति (क्योंकि वह कवि है) का विश्लेषण न होकर, एक बीर और राधाकीय व्यक्तिव में कवि प्रकृति का रमणीय सम्मेलन है।

पुरुषवा के निर्माण में दिनकर को अद्भुत कलात्मक उपलब्धि मिली है। सम्राट के अङ्गीकार पोछाक और बीर के अनुप को दिनकर न कबल दृष्ट भूमि के रूप में उर्वस्वित किया है और उसे अपने मुख्य प्रतिपाद्य का बाधक नहीं बनने दिया है। काव्य में चित्रित किसी भी सम्राट को 'रिचार्ड द्वितीय' को भी भाषा का वह वैभव प्राप्त नहीं है सूर्य और चन्द्र के इस बटे का है। दिनकर का पुरुषवा इस क्षेत्र में अप्रतिम ॥ पुरुषवा की प्रकृति ही रमणी है। वह कवित्वमय रणीनी उमकी अपनी विशेषता है। वह उसकी शम्भवात् प्रकृति है। वह कवित्वमय रणीनी न देवता है, सोपता है, बाधता है। उसका मन साहस्य की भाषा का विश्लेषण विभावार है। अपनी विराट कल्पना की मना न स्नान कराए बिना वह न तो कोई बीर देख सकता है और न कोई भी शायेय महसूस कर सकता है। उसके पास एक कवि की मुख्य

पर्यवेक्षण शक्ति है, एन्द्रियता और साकार में साधने की शक्ति है। प्रकृति की जो चीजें उसने एक बार दल ली हैं वे कभी फिर उसकी छाँटों से घनात्म नहीं होती हैं। उज्ज्वल मणों का बन, माल-माल कमल कुकुम और बादक ज्या की लाली चौबन्नी की पुकार समुद्र का किनारे का झूल क लिए मल-कला, धनिल की महर में पाटन क दलों का उड़ना, सितासिध नभ म रबनी का घाना-बाना, घानद विकल तक की शाली पर मिसहरियों का उल्लसना पत्तों में छिरकर कायल का बोलना शालियों को मरोड़कर नन्दा का शकल मति से बहना पुष्प क कुम्भ-मदिर बस्ती में लिने हुए फूल जल का स्रोत मदन छाया क्कामल मल और पीतल पवन पुररवा को बमह-बमह य सब याद घाते हैं। कवित्व की उसमें ऐसी छद्मशक्ति है कि महारानी श्रीधीमती को मध मावन-बिहार के लिए जाते समय जो सबाह बह बेजबा है उसमें असमिमत की भाई उत्पन्न कर दता है और धपन स्वप्न का ऐसा प्रभावघासी कर्तुन करता है कि सनासद बिस्मित रह जाते हैं।

सौख्य की इतनी बिगड कल्पना को वही प्राप्त कर सकता है जिसका मन कविता की लक्ष्मा हो और जिसका गरिमामय जीवन धादमा का स्वयं एक महाकाम्य हा तथा जिसकी धारमा ईश्वर से एकाकार हा। वही पुकरता है, वह व्यक्ति जो नागा प्रकार का रह करे, नागा धनियों से घनात्म हा। यत निबन्ध ही एक धर्म में पुकरता का सम्पूर्ण पूर्व जन्मों का जीवन उर्बशी से मिलने की तयारी रहा है। वह ठीक ही अपने नाम की साधकता सिद्ध करता है, दूर-दूर तक जाने वाला रह करता है फिर भी अपनी धारमा की वास्तविक पुकार को ठीक-ठीक महसूस नहीं कर पाता है। जब वह पक्षी बार जवरी को रक्ता है तब उसका मन सारे बेव से उसके प्रम म दूब जाता है। उसी वह समुद्र है जहाँ पहुँचकर वह नदी की तरह पीत जाता है—

किन्तु, बाज धापाङ्ग बनायी छापी मठबाली है
मुक पेर कर लड़ी हा मई मूतन हरिजाली है।^१

उमक जीवन की सबसे प्रबल कामला जैस उसकी प्रकृति क कवित्व व हस्य और बिम्ब जिससे उसकी स्मृति मरी है, धपना गरिमा और बीरता व उत्पन्न उमके घानल धादि बरस पड़त हैं। उसक मन से फूटन नाम

प्रत्येक विचार धामेश्वर और विश्व का उसके प्रेम से अपरिहार्य सम्बन्ध है और धन भर के लिए जैसे वे उसी की शक्ति-पटुता की शक्ति में उद्भासित हो उठते हैं। जब पुनरुत्थान को अपने पितृत्व का पता चलता है तब वह अपनी अनुभूति और कल्पना की अमल्य साकारता (Concreteness) धाम पर बाल देता है—

‘पुनः ! धरे मैं पुनर्बान हूँ चोपित करो नभर न
जो हो वहाँ वहीं से मेरे निकट उसे धामे हो ।
हार सोस हो कोप भवन का कह दो और जनों में
बिलमा भी चाहें सुचर्च धाकर से जा सकते हैं ।
ऐस बंध के महामन्त्र पर गया सूर्य निकला है
पुनः प्राप्ति का लाल धाम अनुपम उत्सव है ।
पुनः ! धरे कोई संभाल रखो मरी मंजा का
न तो हृदय से धनी विक्रम-विशिष्ट हुआ जाना है ।’

पुनः वह धाम से कहता है—

किन्तु लाल ! सब धामिन्तुम से कैस भाव मकोवे ?
मह अनुपम का नहीं, जमे का सुहृद बाहू-बन्धन है ।’

अपि कुमार बाने स्वप्न में उसका पिपासित बालमन्त्र ही अपनी विक्रमता में व्यक्त हुआ है। हिन्दी कविता में धामेश्वर की कही पिता के व्याकुल बालमन्त्र की ऐसी धामिन्तुम मिलती है। इस दृष्टि में मूरदास की मधोदा की तरह दितकन का पुनरुत्थान भी मिलधन्य निर्माण है।

कामिदास ने विक्रमोर्वशीय के प्रथम अङ्क में ही पुनरुत्थान के पराक्रम का वर्णन किया है। शिकर केवल पराक्रम का मुग्ध कवन करते हैं। पुनरुत्थान का प्रेम किसी साहसिकता को जन्म नहीं देता है। धाम के द्वारा जो कर्मस्थों के कर्म शेष का विस्तार होता है जो पुनरुत्थान में नहीं है। पुनरुत्थान में व्यक्त विराट् की उदात्तता का कोई प्रीतिमय नहीं है। कवि धामेश्वर की इस उदात्तता का व्यापार के पराक्रम पर कोई मानवस्य नहीं उपदिष्ट कर सका है। उर्वशी को स्वयं इन बात की गिरावट है कि उसका

मिमन ससना की मर्याद' गँवाकर ही सम्भव हो सका है। पुरुरवा केवल इस भ्राम्य बैठा रहा कि उसके मन का दाह जसद-पूज को भेद' उबरी क मन का संतस कर देगा और वह भूतल पर स्वयं जमी घायी। पुरुरवा का यह एक कि उसने न तो कमी दूसरे की बसुबा रहने को सजप किया और कमी दूसरे क स्वाधीन मुकुट पर हाथ बढ़ाया उसक चारिजिक उत्कप का अवस्थ चोतित्र करता है परन्तु इसस उसके उद्दाम प्रेम का चोचित्य नहीं सिद्ध हा जाता। यह ठीक है कि इस मन्दिर का द्वार सदा घन्त-पुर स सुमता है किन्तु 'सबाक-मुमन' को दख कमियों की प्रत्यक्षा स टकार ता निकलनी ही चाहिये। सच तो यह है कि पुरुरवा के पास उबरी क इन उपासम्भ का कोई उत्तर नहीं है कि 'वही मन्त्र जा मानमयी प्रणयी क बाहुबलस्य स विधी नहीं विष्म तरङ्ग पर बड़ी हुई घाटी है।

बाह्य कार्य-व्यापार स यह सामञ्जस्य बाह्य स जी बटित नहीं हुमा है। उर्वरी जब प्रायु क भान पर स्वर्ग जमी जाती है तब पुरुरवा का प्राकोच इस मोमा तक नहीं पहुँचता है कि उसकी रति की विह्वलता का चोचित्य सिद्ध हा जाए। उबरी क जल ज्ञान पर वह उपमाघो-उप्रेक्षाघो की मड़ी समा दता है, मकिन वास्तविक क्रिया में प्रवृत्त नहीं होता है।

'ममन जयी स्पन्दन' का सजाकर पट्ट बजान की धमकी स कोई ज्ञान नहीं है। पहाँ पाटक स यह जाबना जमती है कि क्या हो मञ्छा होता कि पुरुरवा स्वयं स बैर ठान निकल पड़ता। किन्तु, उसके हृदय स बैठी मपनी ही डिभा उसक शाप सनासरो पर प्रवेपित मपनी ही 'कायरता की बाध उसक मन्दर का 'सम्पासी' उस 'मृपा मोह मारा' स क्रुरवत रिना पता है।

ज्वर स दखन पर ता य सारी बाँधें दिनकर क पक्ष स नहीं पड़ती हैं और मयता है कि कवि न एक बजान पात्र की नृष्टि का है। पर पाही सी यहुराई स जाते ही दिनकर के विराट् विजन' स हमारा परिचय होन मयता है। हम कह चुक हैं कि कालिदास की तरह दिनकर का पुरुरवा मयाम कर्म क भरावत पर नहीं उतरता है। दिनकर कबल उसक पराजय का मुल कपन करत है। इसलिये पुरुरवा क चरित्र में वह धमक नहीं घा पाती है, जो कालिदास क पुरुरवा स है। किन्तु, इसीलिये एमा मयता है कि दिनकर का पुरुरवा प्राभुनिक मनुष्य की डिभा का सबसे बड़ा प्रतीक है। पात्र के मनुष्य

का कर्म पक्ष निस्तेज हो गया है। धात्र का मनुष्य चित्त में सम्भी-तन्वी बात करता है, पर कर्म में वह कदाचित् ही कभी प्रवृत्त होता है। धात्र के मनुष्य का संघर्ष धार्मिक दार्शनिक और ऐक्यविक्रम ही होता है। येन का फास्ट इसी काटि का मनुष्य है। येनसपियर का हैमसेट ऐसी ही परिकल्पना है। उपधी जब जमी जाती है, तब पुनरुत्था उपधाया और उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगा देता है लेकिन वास्तविक क्रिया में प्रवृत्त नहीं होता है। कासिबास का पुनरुत्था छल तक भी सभाद् और बीर की तरह ही विवशताया गया है जिसकी सफल बाँझो का सहारा देवताओं को राससों-दानवों से मड़ने में चाहिए। परन्तु, दिनकर का पुनरुत्था संस्थास लेकर जल देता है। हाय रे ! धात्रुनिक मनुष्य का जाय्य। वह कर ही क्या सकता है ? पुनरुत्था हिन्दी का हैमसेट है। ऐसा 'विजन' कोई धात्रुनिक दृष्टि के सम्पन्न कवि ही देख सकता है। हिन्दी कविता के सहजाविक रूपों के इतिहास में पुनरुत्था विमलस निर्मास है। हिन्दी कविता के नावकों की 'वैमरी' से यदि पुनरुत्था को निकाल दिया जाए तो वह वैमरी प्रमाहीन हो जाएगी।

यह पुनरुत्था पुन्याविक पुन्य है। उसके दर में सलित की धार है और प्राणों में यही— उसकी र्जनिका कसियों की हैं और मुद्रिका बरबर की। कदाचित् यह रबीन्द्रनाथ की परिकल्पना का मनुष्य है जो मनसे मुकुमार और धरीर से बरबर है। एक जगह उसके विषय में उपधी ऐसी ही कहती भी है—

‘स्वात् रिक्ताये को बरती जब यहाबीर जगती है

जगती से वह जमी सुरों से भी मनोज्ञ होता है।’

यह पुनरुत्था बड़ा ही मुसल्लत मनुष्य है। प्रम में भी वह कहता है—

‘भिर इतक है इस कृपासुता के हित।

धात्र के मुसल्लत मनुष्य की ही तरह वह यह मानता है कि मारियों का हरस करना सब बरबेला है और भिस्तादन मानिमव। उपधी जब उससे बसपुनक हरस की बात कहती है तो वह पुरानी नविकता का ही उत्प्रेष करती है जब पुराने समय में धीर नव्य नव तक यह व्यापार बतता रहा। धात्र का मनुष्य पुरानी नैतिकता पर धापरस कर नहीं सकता है। वह धम को एकाधमी या पूर्णिया की चीज नहीं समझता

है। भाव यदि धर्म उसमें है तो वह प्रत्येक बात में समाहित है। कम से कम उसकी कामना यही है। धर्म की मापकता भाव इन बातों में है कि वह केवल धरातल पर मनुष्य के आचरण का प्रभावित करे।

दिनकर का पुनरुत्था तब के धरातल पर मनुष्य है किन्तु मन के धरातल पर सम्प्राप्ति है। कल के प्रगाढ़ सपनों में भी वह जा जाता है। उसके लिए प्रेम शारीरिक वृत्ति भी है और रहस्यवाद भी। यह भाव की सम्पत्ता की प्रमुख समस्या है। ज्ञान ने मनुष्य को बड़ा बना दिया है। ज्ञान के मरुदेश में भावना की बारा सूख रही है। प्रेम और विरह में भाव वह तीव्रता नहीं रही जो कामिशास के समय में थी। विज्ञान ने इनका तीव्रता छीन ली है। पहले का भावमयी सीमा और सरल होता था। यदि उस मुस्सा हुआ या तो अपना पड़ोसी का मसा भी वह बिना द्विषक के टीप देता था और यदि प्रसन्नता होती थी तो बस्त्रियों उद्यमन मयता था। किन्तु भाव की सम्पत्ता धार्मिक उल्लिखित हो गई है। जैसे प्याज में पत्त पर पत्त छिलका बढ़ा रहता है, उसी प्रकार भाव के मनुष्य पर कई परत भावना की बढ़ गई हैं। यह पता लगाना कठिन हो गया है कि उसकी वास्तविक परत कौन है। भावना की प्रपञ्चा वह बुद्धि से धार्मिक चालित होता है। यदि उसे कोई बड़ी प्रसन्नता होती है तो इस तरह से कि पड़ोसी जान न जाए, वह उस क्षण से डेक लेता है और यदि किसी के आचरण से उस कोई ठेठ पहुँचती है तो वह उस इस भय से बाहिर नहीं होने देता है कि कहीं प्रतिपाद्य लेने में न बाधा हो जाए। भठ प्रेम और पूर्ण विरह और मिलन की तीव्रता उसमें धर्म पहले से नहीं रही। उसकी दूर अनुभूति जमी हुई है। फिर, विज्ञान ने भी उसकी अनुभूति की तीव्रता छीन ली है। भाव का मनुष्य कितनी भी दूर अपनी प्रिया से रहता पचाचार कर सकता है, टेलीफोन पर बात कर सकता है। फोटो का आदान-प्रदान वह पत्रों के द्वारा कर सकता है। उसका विरह इतना तीव्र हो ही नहीं सकता कि कामिशास के विरही यश की तरह मेघ से अपनी म्या विवेचित कर। भठ भाव के मनुष्य की भावना तीव्र नहीं रह गई है। न तो उसकी पूर्ण प्रवृत्ति होती है न प्रेम उद्गम। न तो उसका मिलन उत्पन्न होता है न विरह उत्पन्न। वह बड़ा हो गया है ज्ञानी जोष। धर्मवीर भारती ने अपनी कविता 'नया रस में धार्मिक मनुष्य की इसी म्या का विवरण किया है—

उर्वशी उपसन्धि और सीमा

प्रभु !

इस रस को

इस नये रस को क्या कहते हैं ?

जिसमें शृङ्गार की भावस्थि नहीं

जिसमें निर्वेद की विरक्ति नहीं

जिसमें बाँहों के

फूलों जैसे वदन के

आकुल परिरम्भण की यात्री लम्प्यता के क्षण में भी

ध्यान कहीं धीर बना जाता है

तब पिछले फूलों की धान पिया करता है

पर मन में कई प्रबल-विह्वल समर धाते हैं

कुम्भज धामिनी का जादू

मन को जैसे ऊपर ही ऊपर से छुकर रह जाता है ।^१

पुष्करवा का निर्माण इसी क्षिणु पर हुआ है । निम्नक उसमें प्रारम्भ से से ही है । उर्वशी से वह प्रेम करता है पर उसे प्राप्त करने के लिए वह सड़ नहीं सकता है । कर्म उसकी कोई विधेयता नहीं है । नवमासन पर्वत पर मधुसामिनी मनाने जाता है तो सीमावर्ती को सबाह अलपूरण भेजता है । तृतीय घटक में प्रमाद केलि जलों में भी वह मन के बराबर पर उर्वशी में डूब नहीं पाता । तारी में परप की अपेक्षा शक्ति सहज आग होता है । उर्वशी वह भाँप जाती है वह मुग्धताकर कहनी है—

तब से मुझको कहे हुए अपना हठ धामिनी में
मन में किन्तु विपण्य दूर तुम कहाँ बने जाते हो ?

बरसाकर पीयूष प्रेम का धाँधों से धाँसों में
मुझे खपत हुए कहाँ तुम आकर खो जाते हो ?

कभी-कभी लगता है तुमसे जा कुछ भी नहीं है
आपस उमका नहीं धम्य कबस मेरे मुनते हो ।^२

वास्तविक पुष्करवा नहीं है । ऊपर ऊपर से वह भोग में डूबा हुआ है पर भीतर से वह विपण्य है । उर्वशी के बहने पर फितनी बार वह अपनी

१ साठ पीतलप धर्मवीर भारती ।
२ उर्वशी ८७

मन्तरात्मा की पुकार का दया भुका है। नोय उसका भोग नहीं है। जब प्राण प्राण है और जबही जमी जाती है, ता अणु भर के लिए उसमें उद्भय होता है पर पुनः वह प्रकृतिस्म हो सम्पास नकर बस देता है। यह सन्धास दिनकर की विनयण कलात्मक यात्रा है। साध्याय ओदन का इससे धम्या धनमर हो ही नहीं सकता। उसका कम धन तक चिन्तन का सहचर नहीं बन सका था। कवि प्रकृति की यही विधयता होती ही है। उसका भोगमय मुशर्च जीवन में उसकी धार्मिक सक्ति के दोषण का यह कम धनवरत बसता बसा धा रहा था। धन्तरात्म के ददन को वह मुनकर भी धनमुनी कर देता था—

इन वैदिक विदियों, कीर्तियों के कथन धावरण में
नीतर ही भीतर, विषणु मैं किठना रिक्त रहा हूँ !
धन्तरात्म के धन, धमाव की धम्यक गिरा को
किठनी बार धनण करके भी मैंने नहीं सुना है ।^१

यह सन्धास धनयन नहीं है। यह सन्धास बाध नहीं है। यह तो प्राणी धन मकक काम करने वाल मजदूर का यधिन पर पहुँचकर बाध उतार कर रहा दना है। इस सन्धास का मुख प्रदमृत होता है। पुदरवा स्वय इसकी ध्यास्या में करता है—

विन मर जुटा प्रकाश जिनाबमुनी प्रवाप धान पर
सारी रदिम समेट दीन के पार उतर बात है
बैठ किसी एकांत प्रांत निजम कहरा बरी में
धपना धन्तरात्म गलत में उदनामित करन को
मैं मैं ही क्यों रूँ देता तपता धम्याध धपन में ?
नय मूर्ध को किविध छोड़ ऊपर मन में धान दो।
पहुँच गया मरा मुहुरत किण्ण समेट धम्बर से
धकबाध के पार विजय में नहीं उतर जान का ।^२

पुदरवा का यह सन्धास उसके जीवन की धनिबाय परिणति है। प्रकृति उर ध्याति से मुख्य पुकवा भती है। पुदरवा का भी भाग का मूल्य देना ही

^१ उबधी २२१

^२ बहा, १२२

सकिए एक बात तब समझ में नहीं आती है। इतने बड़े व्यक्तित्व का निर्माण कर भी कवि ने पुस्तक का नामकरण उबरी क्या किया? क्या नायिका प्रधान नाम हमारे युग की विशेषता हो गई है? कामायनी 'नयायरा' और 'कनुप्रिया'—क्या ये नाम आकस्मिक हैं या एक प्रवृत्ति की सूचना देते हैं। हमारी राय में यदि पुस्तक का नाम पुकरबा हाता तो अधिक पच्छा हाता।

घोमीनरी प्रतिक्रिया

घोमीनरी कवि के चर्यों में कोलाहल के बीच मुकता की धकप रेखा थी है। यही उसकी सीमा थी है यही सामग्य थी। वह परम्परा-मुक्त नाट्यीय नारी का प्रतिनिधित्व करता है जो अपनी अत्यंत ममता प्रियतम के चरणों में समर्पित कर भी सफल साम्प्रत्य का उपयोग इसलिए नहीं कर पाती कि उसमें गृहस्थ के बालुय का प्रभाव हाता है।

घोमीनरी के साम्प्रत्य जीवन की असफलता का कारण यह है कि वह अपने कामिनी-रूप की मजूता समझ नहीं पाती है। वह भावों की कला से अनभिज्ञ है। उस प्रारम्भ में यह बात समझ में नहीं आती है कि उबरी न किन कारणों से पुकरबा को जीत लिया। पुकरबा ऐसा नर नहीं है जो यों ही किसी अन्य नारी की ओर आकर्षित हो जाए। वह लपट नहीं है। उसका आतिथ्य उल्कर्ष बरेष्ठ है। फिर भी यदि वह घोमीनरी की उपेक्षा कर उबरी की ओर आकर्षित हाता है तो उसका कोई प्रबल कारण होता ही चाहिए। अमर-वृत्ति पुकरबा की कोई विशेषता नहीं है। सफल साम्प्रत्य के निर्वाह के लिए अत्यंत समपक्ष ही पर्वति नहीं है कुछ बालुय भी चाहिए। जीवन जीने की भी एक कला होती है। पुरुष और नारी की प्रवृत्ति एक नहीं होती है। पुरुष तेज प्रधान जीव हाता है। नारी ममता प्रधान प्राणी होती है। पुरुष में धर्म का ग्धार अधिक होता है। वह बार-बार अपने उद्देश में लट को ही रुका डालना चाहता है। सत्ता उसकी प्रवृत्ति नहीं है। सबको से क्लान्त हान पर वह नारी की छाया चाहता है। वह नियत निश्चय जीव हाता है। उसके जिस भीतरी आत से पौरुष का प्रभाव पड़ता है उसी से प्रणव की निम्नरली भी निम्नरली है। तेज एवं पराक्रम की धर्म और स्निग्धता एवं मुकुमारता का पीयूष दोनों कारणों एक ही पवन से फूटती है। जो पुरुष जितना प्रतापी हाता है, उसमें उबपता भी उतनी ही

उर्बंछी जपनमि और सीमा

प्रकार होती है। पुष्प भण-जीवी प्राणी है। लण में ही उफन पड़ता है, लण में ही पिघल जाता है। सफ़स बाम्पत्य के निर्वाह के लिए पुष्प की यह प्रकृति समझना आवश्यक है। जीवन की लड़ाई में जीतते वे हैं जो सभी दाव-पेच जानते हैं। जो केवल बोर हैं, लड़ाई की कला नहीं जानते वे हार जाते हैं।

बीसीनरी के बाम्पत्य की असफलता उसी के ब्यक्तिर्य में समिहित है। उसके ब्यक्तिर्य में तेजस्विता नहीं है। वह सचप करना भी नहीं चाहती है अपने सहज प्राप्य को बापस माने के लिए उपाय नहीं सोचती है। वह निराश होकर मृत्यु की ही कामना करती है—

भाजीवन के साथ रह्ये ? तो अब क्या करना है ?
जीते जी यह मरण भेजने से धक्का मरना है।^१

मननिका बीसीनरी को पुष्प के निर्य का संकेत करती है। पुष्प की प्रकृति का धायन्त ही स्वच्छ निरसेपण वह यों करती है—

नवी छिछि हित निरय नया सपप चाहता है नर,
नया स्वाव नव जय नित्य नूतन हर्ष चाहता है नर।
कर स्वर्ण स हूर, स्वप्न भलमस नर को नाता है,
झककर जिसको पी न सका वह जस नर को नाता है।
बीबा में नूनते कुसुम पर प्रीति नहीं जपनी है
जो पद पर चढ़ गई चाँदनी वह फीकी समती है।^२

पुष्प का प्रेम अपरिचित एक हुरी का रोमांच पसन्द करता है। पुष्प का ब्यक्तिर्य रोमांच के धाम्तरिक पुलक स्वर्ण स जयमग रहता है। रोमांचिक ब्यक्ति की एक दुःखमयता यह होती है कि उसमें निरन्तर्य का धभाव रहता है। उसका चित्त बचल रहता है। सफ़स बाम्पत्य के लिए नारी को पुष्प की प्रकृति को ठीक से समझना होता है और तदनुकूल अपने धावरण को समिमाजित करना पड़ता है।

ऐसी बात तो नहीं है कि बीसीनरी यह बात एकदम समझती न हो। कुछ तो वह भी समझती ही है। किन्तु जीवन की सबसे बड़ी ट्रेजडी तो

यही होती है कि भारतीय समझकर जो नही समझ पाता है। श्रीमतीनरी कहती है—

गृहिणी जाती हार दीव सम्पूर्ण समपण करके
जिनो रखी बनी धप्यरा मतके पुरुष म भरके।
पर, क्या जान ससके जगामा नर में गृहिणी मारी ?
बीत गयी धप्यरा सखी । मैं रानी बनकर हारी ।^१

श्रीमतीनरी ठीक ही रानी बनकर ही रानीपन के कारण ही हार गयी। अपने धर्म के धप्यरा को उसने कभी उनगन नही दिया। मरनिष्ठा श्रीमतीनरी का बतसाती है कि शांत-स्तांत पुरुष नारी का बसस्थित चाहता है। निपुणिका संकेत से श्रीमतीनरी का यह याद दिलाती है कि महाराज साधारण नर नहीं हैं। धप्यरा सहज ही उन्हें मोह नहीं सकती है।

‘महाराज भी क्या कोई बुद्ध नर साधारण है
जिसका भित्त धप्यराएँ कर सकती सहज हरण है ?
कार्तिकेय सम गूर दबताथों के गुरु सम जानो
एव-सम तेजवन्त मुरपति के सहस्र प्रतापी मानी
बन-सहस्र संधी ज्योमवत् मुक्त, जतर भिन रानी
कुमुम-सहस्र मधुमय बनाम कुमुधामुख-से धनुषणी।
ऐन नर के लिए न बामा क्या कुछ कर सकती है ?
कौन बल्लु है जिस नहीं बरणों पर पर सकती है ?

पर श्रीमतीनरी अपनी नूत समझ नहीं पाती है। वह निपुणिका का यह उत्तर देती है—

‘धरो कौन है कस्य जिस में सब तक कर न सका है ?
कौन पुण्य है जिन प्रणय-बेटी पर पर न सकी है ?^२

श्रीमतीनरी यह नहीं जानती है कि पति भी अपनी पत्नी से कुछ चाहता है। वह अपने पति का कबल धाधार समझती है। वह सहस्रों नहीं मात्र मनुष्यी बन कर रह जाती है। अपने अधिकार को वह स्वयं गंवा देती है—

१ उबधी ३६

२ धरी ३६

बही ३६

‘पति के सिवा पोपिता को कोई आहार नहीं है।’

पति जहाँ केवल पत्नी का आहार बन जाता है, वहाँ नारी का कामिनी रूप खिप जाता है। तब उस नारी के आसुधों को कैसे बोया जा सकेगा !

श्रीसीतरी अपनी सीमा तब समझ सकी जब समझने का कोई मतलब नहीं रहा। श्रीसीतरी पुरुषों को वह भावमय आहार नहीं दे पायी जिसकी उसे निराला आवश्यकता थी—

‘हाय सती ! मैं ही क्यों रोपी अनुहार छुपस हैं
केवल छुम कामना मंगलैपा से क्या होता है ?
मैं ही दे पायी न भावमय वह आहार पुरुष को
जिसकी उन्हें अपना मुँहा उतनी आवश्यकता थी।’^१

सिर झुनवी हुई वह कहती है—

जीत नहीं के जो महुरों पर मचल-मचल । चलती थी
उड़ सकती थी कुची घुप में मर्बों भरे गवन में
हारी मैं इसलिए कि मेरे लीड़ा-बिकल हवों में
पुसी घुप की प्रभा किरण कोलाहल की पड़ती थी।^२

श्रीसीतरी के ठीक विपरीत सुकन्या को पुरुष की प्रकृति का सूक्ष्म ज्ञान है। पुरुष अपने ही मन की तरंग से हार जाता है। बाहर के सभ्र से उसे काई चरता नहीं होता है। वह पराजित होता है अपने ही प्रसन्नतर में प्रसन्न सभ्र से। सुकन्या श्रीसीतरी को कहती है—

पर के फेंके हुए पाख से पुरुष नहीं डरता है
वह, प्रलय ही काट फड़ता उसे बाहु के बल से।
पर, फंस जाता अभी भीर अपनी मिथित उसभ्रम में
निकल मायन की तब उसको राह नहीं मिलती है।^३

इसीलिए हस्त्य नारी का शक्तिशाली बुद्धि है। उसे लण-भण छेपेट रहता है। पुरुष की धारणा में जठने वाली पीड़ा की प्रत्येक तरंग का उस

१ उर्वशी ३९

२ वही १९०

३ वही १५९

४ वही १६१

ज्ञान होना चाहिए। हर पाद पर उसे सतहम भगाना है। सुकम्पा प्रौढी नारी को कहती है—

‘इसीलिए, बायिल गहन गुस्तर गृहस्थ नारी का।
अणु-अणु सज्जम अनिद्र-दृष्टि खोजना उस हाता है
प्रभी कहाँ है म्यथा ? समर से सौटे हुए पुरुष को
कहाँ कभी है प्यास प्राण में काँटे कहाँ कुंज हैं ?’

दिनकर न प्रौढीनारी के वास्तव्य की असफलता का प्रच्छन्न विवर्णपण किया है। उन्होंने परम्परायुक्त इस स भारतीय नारी के साथ सहानुभूति प्रकट कर पाठक की भावना को ‘एक्सप्लाइट’ नहीं किया है। यही काम—एक्सप्लाइटेडन—गुप्त भी ने यथावरा में किया है। गुप्त भी ने तो केवल भारतीय नारी के कष्ट का चित्रण किया है। प्रीति के दूध को प्रीतियों का बाग पानी फाड़ कामता है, यह तो ठीक है। किन्तु, वे क्यों से कारण हैं जिससे इस देश के हृदय-कटटे नवयुवक असमय ही सम्पास ग्रहण करते रहे मुसवी इसका विवर्णपण न कर सके। यह वैज्ञानिक दृष्टि उनसे पास नहीं है। यह काय कबाचित् पृथ्वी वार हिन्दी कविता में दिनकर न किया है।

प्रौढीनारी हिन्दी कविता का प्रह्लाद ट्रेजिक पात्र है। मुसवी की यथावरा ट्रेजिक पात्र नहीं बन सकी है। यह बात दूसरी है कि उसका जीवन ट्रेजिक है। पाप की पराजय से जो नाटक समाप्त होता है वह सुखांत होता है। गुप्त की पराजय ट्रेजिकी को जन्म देती है। ट्रेजिक पात्र की विशेषता यह होती है कि प्राप्ति वह भसा होता है, कुछ काम वह करना नहीं चाहता है। पर उसका चरित्र में कुछ ऐसे दोष होते हैं जो अंततः उसके पतन का कारण बनते हैं। हम उस समय यही कहते हैं कि यह प्राप्ति वह भसा प्रच्छन्न या ज्वरा उसमें यह नुटि न रहती। ट्रेजिक पात्र कही-कही एकांगी होता है। उसमें आत्मविवर्णपण की शक्ति नहीं रहती है। प्रौढीनारी की दृष्टि उसके चरित्र से जगती है। वह अपनी नुटियों का परिमार्जन नहीं कर पाती। अंत में अस्त-वस्त कर रह जाती है—

पति के सिवा पोषिता को कोई आहार नहीं है ।^१

पति जहाँ कबल पत्नी का आहार बन जाता है, वहाँ नारी का कामिनी रूप क्षिप्त जाता है । तब उस नारी के आँसुओं को कैस बोझा जा सकेगा !

श्रीसीमरी अपनी सीमा तब समझ सकी जब समझने का कोई मतलब नहीं रहा । श्रीसीमरी पुनरुत्था को वह भावमय आहार नहीं दे पायी जिसकी उसे निराला आवश्यकता थी—

हाय सती ! मैं ही कबल बोपी अनुसार कुपण है
केवल धुप कामना भंगवैषा से क्या होता है ?
मैं ही वे पायी न भावमय वह आहार पुरुष को
जिसकी उन्हें अपार धुवा उतनी आवश्यकता थी ।^२

चिर घुनती हुई वह कहती है—

‘जीत गयीं मे ओ सहरो पर भजन-भजन । जसती थी
उड़ सकती थी सुधी धुप में भर्षों भरे पवन में
हारी मैं इसलिए कि मेरे पीड़ा बिकल हयों में
कुसी धुप की प्रभा किरण कोमाहम की गइती थी ।’^३

श्रीसीमरी के ठीक विपरीत मुकुन्दा को पुरुष की प्रकृति का सूक्ष्म ज्ञान है । पुरुष अपने ही मन की तरफ से हार जाता है । बाहर के शत्रु से उसे कोई खतरा नहीं होता है । वह पराजित होता है अपने ही सम्पर्क में प्रचक्षन्न शत्रु से । मुकुन्दा श्रीसीमरी को कहती है—

पर के फेंके हुए पाछ से पुरुष नहीं करता है
वह प्रलय ही काट फाँटता उसे बाहु के बल से ।
पर फँस जाता जमी नीर अपनी मिमि उलझन में
निकल भागने की तब उसकी राह नहीं मिलती है ।^४

इसीलिए गृहस्थ नारी का बाह्यत्व बुझ है । उसे अणु-अणु सचेष्ट रहना है । पुरुष की आत्मा में उठने वाली पीड़ा की प्रत्येक तरंग का उसे

१ उर्वशी ३६

२ वही १६०

३ वही १५६

४ वही १९१

जान होना चाहिए। हर पाव पर उस मसहूम सबाना है। मुझ्झा धौपी नरी को कहती है—

‘इसीलिए वायित्त यहन हुस्वर गुहस्प नारी का।
 लण-लण सजग धनित्र-दृष्टि देखना उस हाता है
 धनी कहाँ है क्या ? समर से मोटे हुए पुस्प को
 कहाँ लगी है प्यास प्राण मे काटे कहाँ चुभ हैं ?’

दिनकर मे धौपीनरी के वायित्त की घसफसता का धन्या विस्तारण किया है। उन्होंने परम्परायुक्त रस से भारतीय नारी के साथ सहानुभूति प्रकट कर पाठक की भावना को ‘एक्सप्लाइट नहीं किया है। यही काम—एक्सप्लाइटेडन—गुप्त की ने समोचरा मे किया है। गुप्त की ने तो कबल भारतीय नारी के कक्ष का चित्रण किया है। प्रांचल के दुःख को धौपी का बारा पानी काक भासता है, यह तो ठीक है। किन्तु, वे कौन से कारण हैं जिससे इस देश के हटे-कटे सबयुक्त समय ही सम्पात कहल करते रहे गुप्त की इसका विस्तारण न कर सके। यह वैज्ञानिक दृष्टि उनक पास नहीं है। यह काम कदाचित् पहली बार हिन्दी कविता मे दिनकर ने किया है।

धौपीनरी हिन्दी कविता का प्रह्ला द्रविक पाव है। गुप्त की समोचरा द्रविक पाव नहीं बन सकी है। यह बात इच्छा है कि उसका जीवन द्रविक है। पाव की पराजय से जे मादक समाप्त होता है, यह सुखात होता है। पुस्प को पराजय द्रविकी का जन्म देती है। द्रविक पान की विधायता यह हाती है कि पावनी यह मसा होता है, बुरा काम यह करना नहीं चाहता है। पर, उसक चरित्र में कुछ ऐसे रोप होते हैं जो घसत उनके पतन का कारण बनते हैं। हम उस समय यही कहत हैं कि यह पावनी बड़ा धन्या का मरा उसमें यह भुटि न रखती। द्रविक पाव कहीं-कहीं एकामी होता है। उसमें आत्मविस्तारण की शक्ति नहीं रखती है। धौपीनरी की श्रवती उसके चरित्र मे जगमी है। यह धपनी भुटियों का परिमार्जन महो कर पाती। पत में घसता-पसता कर रह जाती है—

पछतानी है हाथ रक्त पावरण छाड़ बीड़ा का
 ध्वजित होने दिया नहीं क्यों मैंने जम प्रमत्ता को
 जो केवल अपना नहीं मुझमें भी छिपी हुई थी ?^१

यही तो उसका जीवन की ट्रेजरी है। घोषीनरी पुररबा की ही तरह हिन्दी कविता के इतिहास का एकदम नया अध्याय है। दिनकर अत्र मनमने भय गए हैं कि दुनिया के करों में जो बस्तु बुना जाता है वह कदम ताना और भरती नहीं है। जीवन की सभी रेखाएँ खजु नहीं होती हैं। पुण्य की सेवा बिजय ही नहीं होती है तथा पाप हमेशा हारता ही नहीं है। आवश्यक नहीं कि पुण्य की पुत्रा ही की जाय और पाप को बहिष्कृत ही किया जाय। घोषीनरी कवि की इसी विमान जीवन-दृष्टि की कुलित जननी है— कवि न घोषीनरी के वास्तव्य का विवरण कर उसकी आत्मा की हाहाकार को ही प्रकाशमय से बचता है। अपने लपटे हुए धावन में धातु के रूप में वह मुनसी का पोसा ही लगाती है।

आलोचकों ने इस बात पर विचिन्तता की है कि पुररबा के मथ से हट जान पर घोषीनरी को साना और उस उमरा खान बना कहाँ तक उचित है। अधिकार आलोचकों ने इसके अनौचित्य पर ही प्रकाश डाला है। किन्तु, घोषीनरी की ट्रेजरी वाली बात पर ध्यान रखें तो आश्चर्य बकार जाग पड़ता है। दिनकर की घोषीनरी हमारे पारिवारिक जीवन की ट्रेजरी का आभ्यास है मही उमकी मौलिकता है। यही उसकी विशेषता है।

उर्वशी नाट्य

श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, कवि का अभिप्रेत विषय उर्वशी है—उद्दाम मानस बेम।^२ सम्पूर्ण रूपक को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं— 'उर्वशी नाट्य का प्रतिनिधित्व करती है पुररबा श्रिया का और घोषीनरी प्रतिक्रिया का। नाट्य का ही आशय आन्तरिक नाट्य 'इच्छा' है। मृष्टि के पूर्व ब्रह्मा के मन में एकीकृत ब्रह्मस्यमि' की कामना हुई थी। यही काम है उर्वशी इसी का प्रतीक है। वह तो मृष्टि की प्राणमारा ही है। उर्वी के सबसे म पुररबा कहता है—

१ उर्वशी १२१

२ दिनकर मृष्टि और इष्टि २१५

में पुररवा कहता है—

जब स तुम घायी पृथ्वी कुछ अधिक मुचित मगती है
 तीन समझने है, उनके प्राणों में जो भार है
 बहती है पहले से वह कुछ अधिक रमवनी होकर
 जब स तुम घायी भरती पर पूस अधिक लिपते हैं
 बौड़ रही कुछ नयी वीसि सी पीछल हरियाली में ।^१

पुरुष के मन में बसने वाली इन्ही नारी को युग ने 'एनिमा' की उपाधी दी है। यह वह कल्पना किणोरी है जो प्रत्येक पुरुष के हृदय में निवास करती है ।^२

रूप-विशेषण

उपधी का रूप विचित्र अत्यन्त ही बारीक कविता का उदाहरण है और जहाँ कवि की सरस्वती अपने प्रकर्ष के मात राजती है। यह रूप वर्णन निष्कल और और निष्कलुप है। कदाचित् रूप में पवित्रता का समावेस कर कवि ने उस कामाध्यात्म को मित्र करने का भाव्यम बनाया है। उपधी के रूप विचित्र में ऐसे विशेषण साए गए हैं जिनसे वाचना की तीबी पन्थ नहीं निकलती है। कविताधा में विशेषण (साध ही विम्ब जी) कवि के मनोरञ्जन के साम्यतरिक रहस्यों के उत्पादन का साधन होते हैं। विशेषणों का पुनः कवि सामान रूप से करता है और उन विशेषणों से कवि की प्रकृति का उत्पादन होता है। विशेषण कवि-प्रतिभा के निष्कर्ष हैं। इस दृष्टि से दिनकर को अद्भुत महत्ता मिली है। उपधी के रूप का साहस्य वह विचट प्रकृति में डूबते हैं। प्रकृति में जो भी रमणीय है, सादक है, साध ही निष्कलुप और स्वच्छ है, वह उपधी के रूप से साहस्य के योग्य है। पून क सबस सुकुमार और निष्कलुप उपकरण हैं? पवित्रता की जैसे वे जगमगुमि हैं। दिनकर उपधी के रूप का साहस्य-नारी रूप का साहस्य अधिकतर पून में ही पाते हैं। तृतीय धर्म में वह कहते हैं—

'इन कपोलों की ललाई देखते हो ?
 धोर धपरो की हँपी यह कुम्भी नुझी-कमी मी ?

१ उपधी ७५

२ विस्तृत विवरण के लिए 'क्यातमक पत्र' नामा परिच्छेद देखिए ।

उर्बेची उपलब्धि घोर सीमा

घोर चंपक-गट्टि-सी यह देह स्व पुण्यामरुत से
स्वर्ण की प्रतिमा कला के स्वप्न-साधने में बसी सी ?^१

सबस्य ही यह उर्बेची का रूप पित्राय नहीं है एक सामान्य कपन है, किसी भी कपसी नारी के सम्मुख य सभी कपसी नारियों के सम्मुख में। पर ध्यान देने की चीज है, कबिल की स्वच्छता। पहली पंक्ति में कोई भी उपमा नहीं दी गई है फिर भी पंक्ति छूनी है। सब तो यह है कि कनि उपमा बता ही क्या ? उसका मन कहीं ठाव नहीं पा सका। कोई भी नारी के कपोलों की लाली से होड़ नहीं म मकती है। नारी के कपोलों पर धानबासी वर्धक के हृदय पर भी छा जाती है घोर मन अनुराग के समु में डूबन लगता है। जल-कवि कितनी ठिठई से पूछता है इस कपाल की सजाई देखते हो ? फिर धमरों के कमारों में कहन वाली हंसी कुन्ध घोर जुही की कमी सी स्पष्ट है। यहाँ कुन्ध घोर जुही की कमी की उज्ज्वलता ही अनिग्रत नहीं है। व्यक्ति यह भी होता है कि हंसी निश्चयन है निष्कलुप है हंसी कुन्ध भी जुही की कमी सी पर देह चपक की गट्टि सी — पीताम कनकाम। यह पर पुण्या का सामरुत पुन दोहन का वैजित्य। यहाँ 'लज्ज' कितना व्यजक है। पुण्य-विन्दों की याचना में एक विलक्षण मायकता तो उत्पन्न की ही है साथ ही निष्कलुप पावनता भी बही से जलमी है। पुण्य-विन्दो के अतिरिक्त घोर किसी भी तरह सामय यह उप लब्धि समभव नहीं है।

उर्बेची का रूप-चित्रण उच्च-कोटि की प्रतिमा की रेत है घोर सपूर्ण उर्बेची में बिनकर ऐसे स्वर्णों पर अनिव्यजना की सामर्थ्य प्रदर्शित कर सके हैं। प्राचुरिक काव्य में सभी हट्टियों से उसकी पुनरा केवल भद्रा के रूप बर्णन की जा सकती है। बही उत्तमता बही परिमता बही कल्पनीयता। पुकरवा उर्बेची का चलकर विस्मृति के बिस सुधा सिन्धु में डूब जाता है उसका वर्णन भाषा का नमस्कार है—

घोर सब सहसा
न जाने, ध्यान खो जाता कहीं पर।^२

१ उर्बेची ५१

२. बही ५२

समागम के तत्पश्चात् शरीरों में जब सभी जीव तोड़कर पुरुष का स्वरूप जगता है तब पुरुष का ध्यान कहाँ जो जाता है ? क्या किसी धर्म विशेष में ? क्या श्रीराम नवम ? या ब्रह्म कटाक्ष में ? या मोहक उरोजो में ? या मुर्मुरीर नामी में ? या अस्थान कपोलों पर ? या धर्म समा के पार ? कौन बतला सकता है ? इस मनोभूमि को न जाने ध्यान छोड़ना कहाँ पर । कितनी सफाई सव्यस्त करता है । फिर, यहाँ प्रेम बाधक सिद्ध भी नहीं है । पुरुषा प्रेम पूछता ही नहीं है । प्रेम तब पूछा जाता है जब कोई उत्तर भी हो । यहाँ उत्तर की अपेक्षा भी नहीं है एक विस्मय है, प्रसन्न विस्मय । धारों की पवित्रता है—

‘सत्य ही रहना नहीं’ यह ज्ञान
तुम कविता कुमुम या कामिनी हो ।

पुरुषा उस मन स्थिति में पहुँच गया है जहाँ नारीत्व क कई आयाम एक साथ सहस्र हाथ हैं । नारी में ध्यान की परत अनेक हैं और प्रत्येक परत का अपना रस है । एक स्थिति वह होती है जब नारी पुरुष का उपासना की जीव बीजवती है । वह पुरुष नारी का युगा की उप सिद्धि का पर्याय मानता है । यह कविता कदाचित् प्रार्थना की कविता का बाधक है । इनसे पहले कवि लिख चुका है—‘मुखली नारी नहीं प्रार्थना की कोई कविता है’^१ इसी प्रकार नारी का कुमुम समझना ध्यान की दूसरी परत है । रमाटिक प्रेम नारी को कबल बचने की वस्तु समझता है । कुमुम वास्तव प्रत्यक्षीकरण का सर्वोत्तम उपकरण है । पुन रमाटिक प्रेम की निष्कमुपता भी कुमुम से ही सिद्ध होती है । किन्तु, नारी को कुमुम समझना एक मन स्थिति है वह प्रेम की शरम परिणति है । नारी रूप की शरम नकार है उसका कामिनी बाला रूप । प्रेम जब शरीर के बराबर पर उतरता है, उसकी भावकता तब सिद्ध होती है । यही ध्यान की तीव्र परत है । दिनकर नमी परत पर अपना शरण रख सके हैं इसमें इतने न्यून नहीं है । वे एकापी वा नहीं हैं, फिर भी धनिय्यजना निष्पाप हैं ।

पुरुषा को तत्पश्चात् निस्सीम है । यह उर्वशीमय हो गया है । वह कहता है ।

१ उर्वशी ४८
२ वही ४८

भारती की ज्योति को मुख में समेटे
 मैं तुम्हारी धोर अपमक देखता एकांता मन से
 रूप के उदयम घमम का मेर धुलता हूँ ।^१

उर्बशी की स्पूल देख को कवि ने भारती की ज्योति' बना दिया है। समास के धरों में पुरुष की बाँहों में घाकर छिपट छिपुड़ जान वाली तन्हागी रूपसी धोर भारती के समय वही हुई बाँहों के बसने में पूजा की ज्योति इन दो विपरीत स्थितियों का यह कितना सूक्ष्म समीकरण है। फिर, पुरुष का एकांत मन से अपमक निहारना अनमोल है। एकांत मन' ऐसा मन जहाँ उस समय केवल वही भारती की ज्योति जल रही है और कुछ नहीं है। यह एकांत मन' केवल एक ही विधि-विस्था में उत्पन्न है कि ऐसा रूप कहाँ से आया? फिर पुकरना अपनी जीव-पकताम में पहले उर्बशी को सूँघता है, पाता है 'साँस में सीरम'। साँस में सुरभि फूटती है। देखता है—'वर्ष में पावस भर है।' कल पीतमय (Lycal) है, जिस हर भगिन से संगीत फूट रहा है। किस प्रकार कवि ने बाधुप प्रतिरूप का भवणविभा का विषय बना दिया है। स्वाभाविक है कि वर्ष की भीनी सहर से वह प्राण को सींचता। प्राण का सींचना कितना आह्लादक है। अन्त में पुकरना उर्बशी के 'रंग का संगीत धुलता है। उर्बशी का रंग—उसका मारा व्यक्तित्व है, उसके भारीत्व समय सुन्दर है, उसका रूप, उसकी धात्मा सब कुछ है। घट वह 'रंग का संगीत' सुनता है। प्रतीकवादी अभिव्यक्ति का बीड़ा यहाँ कुल कर प्रकट हुए हैं।

उष्ण हृदय की मुकार

उर्बशी निर्जीव बुद्धि की तुलना में उष्ण हृदय की मुकार है। उसका समय जीवन प्रकृति से एकाकार है। वह प्रकृति ही है। भावुनिक सम्पत्ता ब्रह्मा है। बुद्धि के धजीर्स् से मनुष्य के हृदय के रक्त-बिन्दु मूकते जा रहे हैं। भाव के मनुष्य का समय जीवन-वर्षण ही कृत्रिम हो गया है। उसका आश्रय निर्जीव होता है, उसका प्रेम धिपिस और उसके विरक्त में कोई उद्दामता नहीं होती है। प्रकृति के साथ एकाकार होना ब्रह्मचर्य की महिमा का लक्षण नहीं है। निवृत्तिवागी यहाँ न प्राकृतिक जीवन का विरोध किया

धीर मनुष्य पर प्रतिबन्ध लगाए। यह भ्रम पैमाना क्या कि जो जीवन का रस भोगता है, वह ईश्वर से दूर हट जाता है। इस विश्वास ने सने-सने मनुष्य का अपनी कुबसी में खपट लिया और मनुष्य घसड़ा बनन लगा। ब्रह्मचर्य मनुष्य की घसड़ाव नृति है। उर्वशी पुकरवा क ठीक बिपरीति दिखाती नारी है। उसे कोई झिन्नक नहीं है। वह मित्रमृ होकर बरनी का रस मागता चाहती है। वह नहीं मानती कि जो नारी नर को जान जाती है उसक लिए परम सत्ता का ज्ञान घलम्य है और न वह यह मानती है कि जो पुरुष किसी रमणी को धानियन में बाँध चुका है उसकी ऊर्ध्वमुखी यात्रा घबकड़ हा चुकी है। वह नुम्ला कर पुकरवा न कहती है—

‘किसने कहा मुम्ह, जा नारी नर को जान चुकी है,
उसक लिए घलम्य ज्ञान हो गया परम सत्ता का।
धीर पुरुष जा धानियन न बाँध चुका रमणी को,
वगलाल को भद सपन न उठने सोच्य नहीं है।’

यह प्रकृति परमेश्वर तक पहुँचने का पथ है, कपिल के साक्ष्य वगन की नापा न उबरी कहती है—

‘किसन कहा मुम्हें परमेश्वर और प्रकृति, न दोनों
साथ नहा रहल जिसका भी ईश्वर तक जाना है,
न ताड़ सने होंगे मारे सम्मम्य प्रकृति स
धीर प्रकृति क रस में जिसका अन्तर रसा हुआ है
उस और जो मिले किन्तु परमेश्वर नहीं मिलेगा।’

हुडि क पीठ दर्शन न निर्बाछ और सवार को परस्पर विरापी बनवाया। मनुष्य का हृदय यह नहीं मानता है। हृदय के घलम्य रूप स उठन वाली पुकार घलम्य कैय हो सकती है। दधिर ही हमारा जीवन है। उबगी मानती है कि निर्बाछ और सवार एक दूसर स कठराते नहीं हैं। मोघ का प्रकृति न भिन्न कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जीवनमुरुन की पहचान यह

मही है कि वह कितना संयमी है, बल्कि यह कि उसका जीवन कितनी दूर तक प्रकृति से समरस है जीवनमूर्ति नैसर्गिक जीवन जीता है। वह नदरों की तरह सहज हाठा है, बापु में झुमने वाली आसियों की तरह मस्त होता है, पक्षियों की तरह प्रसन्न होता है और बावलों की तरह मटरबस्ती करता निश्चित हाठा है। समय मनुष्य की वैदिक पुकार है। बुद्धि इसकी महिमा का चाक समझे—

सुविपुल पर उत्तम स्वास का स्वस घोर घबरोँ पर
रसना की गुहपुत्री, अक्षिपिठ निधि के प्रीतिमाने में
रसमाली, म्दकली उँवसिया का संवरण स्वभा पर
इस निपुण कृष्ण का प्राद्यम बुद्धि समस्त समी है।^१

उर्वशी कहती है कि इसे बचिर, समझता है। किसी दूब की फूलगी से प्रीति से जाने पर भी उसमें एक कपल उठता है। यही जीवन है।

उर्वशी राम है। इसी का प्राक्म प्रात्मीय नाम 'प्रा' है। यही इच्छा है। यही राम हमारा जीवन है। राम के रस पर बढ़कर ही मनुष्य जय प्राप्त को निकलता है। यह नहीं है तो जीवन में कोई रस नहीं है। उर्वशी पुकारता से कहती है—

'जब तक यह प्राक्क सेय तभी तक प्राक्क इन्द्र के जय है,
माटी-माटी से मही, स्वर्ग दोनों ही सुन्दर लगते हैं।
मरकट की माटी प्राक्क तभी तक पुष्प धूमनों के मन में
शुने समझान को देल जयली-बुद्धि फूलती है मय म।
धम्मा की प्राक्क तभी तक वेदामय म मुझे छटाती है
यो' समन-कथ में मूर्ति वैद्यता की भय में फिर जाती है।

X

X

X

मुरपति सब तक ही प्राक्कमान रहते बढ़कर प्राक्कमान का,
धम्मा स्वर्ग से माटी है घबरोँ का सुन्दर पाने का।^२

यह पावक ही पीरप की पहचान है निर्बीज न तो प्रमाद के बिना क
छलों में नारी के धर्मों को घाट की तरह गूँथ ही मक़ता है और न बिना
का कसु ही पहरा सकता है। प्रेम पुरुष के धामिपन में नहीं बसता है। वह
उनकी धर्मों से टपकने वाले धीरे प्रकार का ही दूसरा नाम है। यह रस दृष्टि
ही जीवन है। भूषण का रस भी मन के मुखा-कूट से धाया है। इस रस
दृष्टि को महिमा भीषीनरी भी ममम्भी है—

‘वह धर्मसोकन भुग वयस की जिससे धन जाती है
प्रोढ़ा पाकर जिसे कुमारी मुबली बन जाती है।
धर्म पवित्र निर्मली धीरमय हम की वह मुसफारी
जिसमें कर धर्मगाह नवी फिर हा उठती है नारी।’

भीषीनरी जिसका प्रभाव यहमुख करती है, उर्ध्वो न बही वस्तु पुकरवा
को बिया। इसीलिए उर्ध्वो की धर्मरा भीषीनरी की सती को परान्त करती
है। प्रत्येक नारी में एक धर्मरा बनती है। पुरुष इसी धर्मरा से प्रेम करता
है। उर्ध्वो की यह धर्मरा धर्ममय प्रथम है। मादक नी। उस कोई धर्मि
नहीं है। वह उस मुख को निश्चित होकर जागना चाहती है जो मुख मुबली
नारी को पुरुष की कृपा से बाहों में बसकर मिलता है। पृथ्वी धर्म म
सन्तोष का एक विलक्षण विषय धारण है। पुकरवा धामिपन-पाप में भी उगी
धीव-महिमा की बात कर रहा है जो उर्ध्वो पारिव्राज्य भुग की धर्मक टहनी
से बांध धारण है। तब उर्ध्वो उससे कहती है—

‘पर, मैं मादक नहीं जहाँ नी रहो, भूमि या मम मं,
वधस्थल पर, इसी भाँति मेरा कपाल रहने लो।
रुच रहो वय इसी भाँति उर पीढ़क धामिपन में
धीर बलासे रहो धर्मर-दुष्ट को कठार चुनन से।’

मगता है, कि उर्ध्वो के धनुनय को पुकरवा ने मुना धीर पवत की
धामुरी मल्लि के धामुन धालोइन में उस पीम डामा। उर्ध्वो को कदाचित्
मधुर बर्द डामा है धीर वह धर्म-म्यस हामी हुई कहती है—‘किन्तु, धाह।’

१ उर्ध्वो ३७

२ बही ६२

यह 'माह !' किठना मधुमय है। तब वह कहती है—'या नहीं' तनिक ता
 सिमित करो माहों को संभोग के द्वार पर तिरछी हुई नारी निष्प्रेषण स
 बचने का अनुमय-विनय करती है। किन्तु पाठक भी समझता है कि इस मधु
 निष्प्रेषण में भी मर्यादित है घान्ति और घान्ति एक शब्द है।

रुमानी प्रेम

घोसीनरी के विपरीत, उर्बची का प्रेम रुमानी है। पहिलों ने रुमानी
 प्रेम के तीन तत्व बतलाये हैं—आवेग कल्पना और कोमलता। यह आवेग
 उर्बची में पूरी प्रकटता से है। यह कहती है—

यदि आन काण्ड का धक नहीं पाऊँगी
 तो घीर को छोड़ पवन में निश्चय मिल पाऊँगी।^१

रुमानी प्रेम प्रेमी को उद्विग्न बना देता है। उस न तो दिन में बिन
 मिलता है और न रात में। उसका समस्त चिन्तन एक ही दिशा की ओर
 प्रवाहित होने लगता है। प्रेम बेतला का अपरिहार्य अक्ष बन जाता है।
 इसका बन्ना ही प्रभावघाती बर्तुन बिनकर न हो किया है—

'लगता है कोई घोणित में स्वस्थ-ठरी जाता है
 रू रू मुक उठा अपनी बाहों में भर लेता है।
 कौन देखता है जो यों क्षिप्त-क्षिप्त कर खेल रहा है
 प्राणों में रस की अल्प मापुरी ज्वल रहा है।'^२

हमारा प्राचीन काव्यसाहित्य इन वस्तुओं की ठीक-ठीक व्याख्या नहीं
 कर सकता है। साक्षों में निर्दिष्ट 'एकादश' में इन्हें समाहित नहीं किया
 जा सकता है। यह ही रुमानी प्रेम का आवेग है। श्री रमायणकर त्रिबारी ने
 इसके लिए 'घाणित-विप्लव' की सजा दी है। आभाकुलता के अनुबन्ध कही
 कही तो बिनकर की अभिव्यक्ति जाबुर्दा हो गई है। यथा—

१ उर्बची २

२ वही २१

३ बिनकर की उर्बची चौथम्बा प्रकाशन।

निराकार मन की उमन का रूप कहा व पाडे
छूटे तन की धाम धीर में उमन तर महुाडे ।^१

कमाली प्रम क धावन का इसम धमका वर्णन हिन्दी कविता में मैं न
प्रत्यक्ष महुाँ दखा है ।

चरित्र का विकास

उमगी का चरित्र तृतीय धक तक प्रमगी क रूप में ही धाया है । वह
धमिदन रूपवी है, दिनकर म उमका चिनण रूप-यकिना मारी क रूप में
ही मिया है । धी हवायी प्र० दिवरी मिलाते हैं प्रिया रूप में वह प्रबंध
नंभ्य है । धुती है नकन्दोर दती है पर चराई नहीं शनी पकड़ में नहीं
धाती ।^२ चतुर्थ धक म उमका मयल बनना है । यही वह ध्यष्टि मारी का
धाया धुाती है । तृतीय धक तक की रंघी रूपवी है, पुस्य त्रिष पर
रोन्ना है । किन्तु, उसक चरित्र म वह बनक नहीं है त्रिषक कारण ही
किरी पाव की ध्यष्टित्व मिसठा है । तृतीय धक तक की उमगी रति की
उध्दय तरग है जो मन म धसीम कम्पन्न भर दती है धीर मन कवन क
सरोवर म रंरते मगता है । किन्तु, उसक चरित्र म वह निवार नहीं है त्रिषक
कारण ही किरी पाव को महाकाव्यात्मक उदात्तता प्राप्त हुानी है । यह
उदात्तता उममें चतुर्थ धक में धाई है । मातृत्व हा मारीत्व की चरम उपलब्धि
उत्पन्न है । उमगी महुाँ मातृत्व प्राप्त कर धमिन-बलि बन जाती है । इस धमिन-
बलि नागे का सरोप उन्नामक होता है । यही उमगी महिमा है । किन्तु,
यह ना निपति की विहम्बना श्री है कि मारी महिमामयी तव हाती है जब
वीरन का हिमालय यमन मयता है । धी हवायी प्रनाद दिवरी चतुर्थ धक
की धमिन-बलि मारी क विषय म लिखत हैं—माता रूप म वह सरल
मातृमित्री है, रक नहीं सकत्री पर यमी हुर, न्दरती मुह । इन को क्यों क
उम न वह ध्यष्टि मारी की धाया धु लती है ।^३

उमगी क ध्यष्टित्व का निवार मामचीय उम्र से धाया है । ध्यनु जीवन
ध्यानि म्हा विवेकता है । ध्योति ता धाता है धातुम विवधता क सपय स ।

१ उमगी २१

२ दिनकर तृति धीर रति २२२

३ यही २२२

मनुष्य को इस आकृष्ट विषयता के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ की पंक्तियों में
 किञ्चित् परिवर्तन कर या कहा जा सकता है—जीवन में कितनी पूजाएं
 जो पूरी नहीं हो पाती कितने फूस हैं जो क्षिप्त के पहले ही धूम्र पर भर
 जाते हैं, कितनी मर्षी हैं जो मरुभूमि के मार्ग में ही अपनी धारा का बैठती
 हैं। उर्वशी की बेवना है, भरत का छाप। अनित्य कभी उर्वशी पुनरुत्था के
 प्रलय में डूबी हुई है। किन्तु, जब उसे मानुष प्राप्त होता है तब उसकी बेवना
 उसे अपने लगती है। या तो वह पुनरुत्था को पा सकती है, या आयु को।
 वह भी तब तक जब तक कि उसका पति अपने पुन का मुह नहीं
 बंद। अर्थात् नारी की यह पीड़ा हो उसके पति को स्थापित होती है।
 अर्थात् नारी का यह सर्व पति और पुन का सर्व है सुकन्या उर्वशी स
 कहती है—

कौन भाविनी है जो संगम पुन और प्रियतम में
 किसी एक को लेकर कुछ स आयु बिता सकती है ?
 कौन पुरस्त्री तब सकती है पति के लिए समय को ?
 कौन सती सुत के निमित्त स्वामी को त्याग सकेगी ?^१

उर्वशी में वास करन वाली कामिनी पति की उपेक्षा नहीं कर सकती है
 और उसमें वास करने वाली माता पुन को त्याग नहीं सकती है। इन्हीं दो
 बिन्दुओं के संमम पर उसकी कदखा का कवित्व गहराता है। उसके जीवन
 की विदम्बना यह है कि—

हाय ! मन्त्र मे मुझ कामाविनी छाप हस्त नारी की
 न तो प्राणप्रिय पुन न तो प्रियतम मिलने वाले हैं।^२

उसके जीवन की यह भावना कम मार्मिक नहीं है। जीवितों का तो
 मन्त्र आयु ही मिल गया किन्तु उर्वशी को न तो पुनरुत्था का साहचर्य
 ही सम्मुख रह सका और न आयु का सम्पन्न ही। वह एक ऐसी नारी है
 जो मरुभूमि के मार्ग में ही अपनी धारा को बैठती है।

उर्वशी और श्रद्धा

उर्वशी में वह प्रगल्भी नहीं है जो प्रमाद की श्रद्धा को महज श्राप्य है पर श्रद्धा की शिबीरिया उर्वशी की तरह दुःखी नहीं है। उर्वशी अमानक है, श्रद्धा सहज नीक। उर्वशी रख लती और रती है। श्रद्धा उन महीनी नी है। श्रद्धा पूर्ण पराधर्मी का प्रतीक बन जाती है, धन उर्वशी उनकी गुणना में अधिक विषयमयी मयनी है पर श्रद्धा वाली महज उदात्तता का समर्थक है। मानवी श्रद्धा क धावरण में स्वयं की जयक है पर जो उर्वशी क धावरण में मानवी की उप्पा है। शानों की प्रकृति एक नहीं कही जा सकती।

चरित्र की कुछ विशेषताएँ

उर्वशी को पारदर्शिता स्वयं की धारणा का परिभाषा मात्र ही शायु मैत्री उसकी उन्मुखता में सब उसक परिवर्धन क धरा है उसक व्यक्तित्व का परिष्कार धन नहीं। उसकी वास्तविक कल्पना स्वयं निष्प है। वह नैय विक है, मारी गुणध धावरण से युक्त साथ ही उसकी प्रकृति में बड़ा कार्य बनावट का नाम नहीं है। उसकी कल्पना की श्रद्धाता योहक है और जिन्हीं निर्दोष। प्रिया रूप में वह बचन धमक और सोक है, माना और महीनी क रूप में उसका स्वर प्रभाव है। उसकी प्रत्यक्ष धारणा उसकी धमकता का प्रतिध्वनि है इसलिए उसक कौमान का मधुरता उसके जीवन क पत्र पर अमान्य बरसता है। धमक की धीनवारिक परिभाषा उसकी कोई विपत्ति नहीं है। धमक की मुम्कराह या दुसकने वाले धमक, मूह की निठाव मुम्कराह की पमके महज और बचन नैयमार्य, ये सब निष्पक्ष धमक की प्रकृति हैं। यदि उर्वशी स्वयं की धमक है, तो स्वयं धमक ही धमक की तरह मुम्कराह है। येही उर्वशी का यह यह मानना रूप महज ही विषयमयी है। मानविपत्ति उसकी प्रकृति नहीं है। महज गुणध उसकी विपत्ति है। जो कही है प्रत्यक्ष माक-माक। शिन्कर की उर्वशी ही यह कह सकती थी—'हरण किया कौ नहीं मान सेने में यदि धमक या।' उर्वशी को मय बड़ी चरित्रक उपमिश्र प्रय और शायना में उसकी मान-

दारी है। पुररवा से उसका प्रेम विमर्शण रूप से सञ्चा तीव्र और पवित्र है। पहली बार जब उसने पुररवा को देखा था— यही काम धनगर उबल प्राणों पर बैठ गया था? ^१ से लेकर अंत में धानु के घाने पर 'उमड़ प्राण से कहीं कष्ट में उबाला घटक पयी है।' ^२ तक उसकी सचाई एकरम है। हिन्दी नायिकाघा की सम्प्री परम्परा में यह कहने का साहस केवल उसी को है—

'पक्षो रक्त की भाषा को बिदबास करो इस निषि का
यह भाषा यह निषि मानस को कभी न भरमाययी।'^३

भरखानी औरत

विचारणीय यह है कि उर्बशी को यह सब कहने का साहस कहाँ से आया? अधिकार नारियों की स्थिति तो प्रसार की भाषा में यही रही है कि जब अन्तर्मन ही कहला जाहता है, तब बहिर्मन ना क्यों कहला देता है? अथवा ही उर्बशी को यह कहने का साहस बिनकर की जीवन दृष्टि से आया है। बिनकर की कल्पना का अनुप्य 'अर्चनारीखर' है। वे निश्चित हैं— अर्चनारीखर केवल इसी बात का प्रतीक नहीं है कि नारी और नर जब तक हैं तब तक दोनों अपूर्ण हैं, बल्कि इस बात का भी कि जिस पुरुष में नारीत्व नहीं वह अपूर्ण है, एवं जिस नारी में पुरुषत्व नहीं वह अपूर्ण है। ^४ यानी सर्व पूर्ण तब होता है जब वह कुछ औरतानी हो और औरत पूरी तब होती है जब वह कुछ नरवाली भी हो। औरतानी सर्व और भरखानी औरत यही अर्चनारीखर की कल्पना है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से औद्योगिकी का अरिष कृष्ठित व्यक्तिगत का उदाहरण है। वह औरतानी औरत का पूर्ण प्रतिबिम्बित्व करती है। ऐसी नारी में पुण्य की पुकार पर पूरी प्रतिबिम्बा नहीं उत्पन्न होती है। औद्योगिकी उस बुले प्रापण में उतर नहीं सकी जहाँ नर-नारी कंबे मिलाकर बसते हैं, नर नारी के सबाट में कुकुम लगाता है और नारी नर का फावड़ा उठा लेती है। उर्बशी क्यसी है, सुकुमार है, भावक है तन्मयी है पर उसमें सीम और साहस भी है।

१ उर्बशी ४३

२ वही ३६

३ वही ५१

४ वेणुबन ६

इसलिए जीवन को सबाई वह जीत जाती है। यहां दिनकर की कम्पना की मरहानी घोरत है। इस दृष्टि से हिन्दी में दिनकर की उबड़ी प्रगति है। प्रसाद की श्रद्धा से उसकी कोई तुलना नहीं की जा सकती। उसकी निजीक साहसियता ने उसे चरित्र की कोटि से ऊपर उठाकर व्यक्तित्व बना दिया है।

सामान्यतया कविता में नारियाँ का चित्रण सदाही ही होता है। एक कवि जिन्हें नारी के चरित्र में पहरी पठ है बहुत कम है। सेक्सपियर निरुपम ही इस क्षेत्र में सर्वोपरि हैं जैसा कि वह प्रत्येक क्षेत्र में हैं, किन्तु बिस्तार में तो नहीं पर गहराई में उसकी तुलना केवल बास्मीकि ने की जा सकती है। यह कला रेखीन में भी है हालाँकि वह सीमित है किन्तु कालिदास में यह कला निस्सीम है, यद्यपि कि उसमें भी सेक्सपियर की वह प्रकृष्टता और व्यापकता नहीं है जो उसकी सहज विशेषता है। प्राधुनिक हिन्दी साहित्यकारों में यह कला प्रसाद की अपनी विशेषता है। दिनकर उस ऊँचाई के अधिकारी नहीं हैं, जहाँ सेक्सपियर, बास्मीकि रेखीन कालिदास सहज ही पहुँच सके हैं। अवश्यकर प्रसाद की व्यापकता और विराट्ता भी उन्हें नहीं मिली है। फिर भी उर्वची का जो चित्रण उन्होंने किया है वह बड़ा नहीं है।

रूपात्मक पक्ष

‘उर्बंशी’ के सभी पात्र परिणामी हैं और प्रतीक भी बिनकर वे शान्ति पदानों की बड़ी सफलता से निभाया है।

प्रत्येक व्यक्ति, सबसे अधिक अपने से प्रेम करता है। मान का मत विज्ञान कहता है कि धारम रति की प्रकृति बहुत ही प्रबल होती है। हमारी दिलचस्पी का सबसे बड़ा केन्द्र भी है। दूसरे की प्रेम कथा में इसलिए रस मीठे हैं कि हम भी रति भाव से पूर्ण हैं। कविताओं में रूपात्मक पक्ष के उद्भव की यही मनोवैज्ञानिक मूल्य दूँगी है। बिनकर ने लिखा है कि कविताओं में हम जिस नारी का चित्रण मुनते हैं वह किसी की भी बटी बहल या माया नहीं होती। वह तो धर्मात्मिका अचरी-री कल्पना की प्रतिमा है जिसके अंग पर उल्लास के शान नहीं लगते जो स्वयं ने पर खड़ी हमारे सपनों पर राज करती है।^१ कहन का तात्पर्य यह है कि साहित्य में सभी नाम व्यक्ति संप्रेषण सम्बन्ध से मुक्त रहते हैं। पात्र हमारे विचार और भावना का प्रतीक बनकर आते हैं। साधारणीकरण का यही रहस्य है। बीरम्भ मारायण के ध्वजा में हम सभी अपनी प्रेमिका के बहाने अपनी कल्पना की मारी को ही प्यार करते हैं। अपनी पत्नी में हम जिस प्यार करते हैं वही हमारे ससुर की बटी नहीं होती।^२ जो बात मारी के सम्बन्ध में कही जाती है वह सभी पात्रों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। प्रत्येक पात्र को हम किसी भावना के प्रतीक के रूप में देखते हैं। ‘उर्बंशी’ को निश्चय ही बिनकर के एक रूपक काव्य (Allegory) के रूप में उपस्थित किया है।

उपशो

- प्रत्येक पुरुष के हृदय में एक कल्पना किछोरी का निवास होता है।
(1) अरीर-वस्तु की सुखी तो उल्लास कल्पना-किछोरी की कल्पना कर

१ धर्म नैतिकता और विज्ञान १९

२ बिनकर मृष्टि और इति २४३

दिखाती है। यह खिन्ननाथ के शब्दों में मात्र सुन्वरी' है उबसी है, उबसी है—'गहमाठा गहकम्मा गहवणु लुमि सुन्वरी रूपसि, उबसी।' दिनकर ने विरन्तन नारी (Universal woman) की कल्पना यही से की है। उबसी कबल नारी ही नहीं है वह सौन्दर्य की धातुया मूर्ति भी है। दिनकर ने उबसी और पुन्वरा का समातन नर और समातन नारी का प्रतीक माना है। उनके शब्दों में 'उबसी शब्द का कोपमत्त घर्ष होता उत्कट अभिभाषा अपरिमित वासना इच्छा धनका कामना। उबसी का विचित्र भी कवि ने इसी रूप में किया है—

ब्रह्म स्वप्न पर इसी भाँति मेरा कपोल रहन हो।

कम रहे बय इसी भाँति उर पीढ़क घामिगन में

घोर जागते रहो घबर-पुट का कठोर कुम्बत से।^१

पुन दिनकर लिखते हैं उबसी शब्द रमना धातु स्वक उपा प्राप्त की कामनाओं का प्रतीक है।^२

उबसी शब्द का अर्थ है 'हृदय में निवास करने वाली। कवि ने उस विरह मांस के हृदय में निवास करने वाली समातन नारी का पर्याय माना है। यथा—

जन-जन क मन की मधुन बह्नि प्रत्येक हृदय की उबसासी
नारी की में कल्पना करत नर क मन में बसत वाली।^३

वह नारी देववती होकर भी अवह जाती है। यह विश्व पुरुष के हृदय में ही निवास करती है—

मैं अवह कल्पना मुझे वह मान बैठ हो
मैं अवश्य तुम इस वनकर मुझको समझ रह हो
माया की धारण या मानसिक तनया नाचवण की।^४

१ उबसी (भूमिका) २१

२ वही ६५

३ वही ४

४ वही ६६

५ वही ६६

रूपात्मक पक्ष

‘उर्वशी’ के सभी पात्र परिणामी हैं, और प्रतीक भी बिनकर ने दोनों पक्षों को बड़ी सफलता से निभाया है।

प्रायः व्यक्ति, सबसे अधिक अपने से प्रेम करता है। धात्र का मनो विज्ञान बतलाता है कि धारम रति की प्रकृति बहुत ही प्रबल होती है। हमारी दिलचस्पी का सबसे बड़ा केन्द्र भी है। दूसरे की प्रेम कदा न इसलिये रस लेते हैं कि हम भी रति भाव से पूर्ण हैं। कविताओं में क्या रमक पद के उद्भव की यही समाधिनामिक पृष्ठ भूमि है। बिनकर ने लिखा है कविताओं में हम जिस नारी का बखान सुनते हैं वह किसी की नई बटी बहन या भार्या नहीं होती। वह तो जनानिका धसरी की कल्पना की प्रतिमा है जिसके अंग पर उन्नत के दाव नहीं खगते जो स्वयं में परे बड़ी हमारे सपनों पर दाव करती है।^१ कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य में न सभी नाम व्यक्ति सापेक्ष सम्बन्ध से मुक्त रहते हैं। पात्र हमारे विचार और भावना का प्रतीक बनकर धात है। साधारणीकरण का यही रहस्य है। बीरेन्द्र नारायण के चरित्रों में हम सभी अपनी प्रेमिका के बहान अपनी कल्पना की नारी को ही प्यार करते हैं। अपनी पत्नी में हम जिस प्यार करते हैं वही हमारे सपुत्र की बटी नहीं होती।^२ जो बात नारी के सम्बन्ध में कही जाती है वह सभी पात्रों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। प्रत्येक पात्र को हम किसी भावना का प्रतीक के रूप में देखते हैं। ‘उर्वशी’ को निश्चय ही बिनकर ने एक कल्पना काव्य (Allegory) के रूप में उपस्थित किया है।

उर्वशी

प्रत्येक पुत्र के हृदय में एक कल्पना कियारी का निवास होता है। धारी-अपार की मुन्हरी तो उस कल्पना-कियारी की कल्पना भर

१ धर्म मैतिकता और विज्ञान ३३

२ बिनकर: मृष्टि और इष्टि २४६

दिखाती है। यह रश्मिन्मास क पक्षों में मास सुन्दरी है, रूपसी है, उर्वशी है—'महमाता नहकन्या महबभु' लुमि सुन्दरी रूपसि उर्वशी। दिनकर न विरमन नारी (Universal woman) की कल्पना यही स भी है। उर्वशी कबल नारी ही नहीं है वह सौन्दर्य की प्रादुर्भा मृष्टि भी है। दिनकर न उर्वशी और पुष्करभा का सनातन नर और सनातन नारी का प्रतीक माना है। उनक पक्षों में 'उर्वशी सख्य का कायसत धर्म होमा उत्कट प्रभिभापा अपरिमित वासना इच्छा प्रथवा कामना। उर्वशी का विषय भी कवि न इसी रूप में किया है—

बध लघन पर इसी भाति मरु कपास रहन दो।
कस रह कम इसी भाति उर पीङ्क धामिपन में

धीर जगताये रखा भस्वर-पुट को कठोर पुम्बन स।^१

पुन निमकर निखाते हैं 'उर्वशी बभु रमना प्राण तबक तथा पात की कामनाओं का प्रतीक है।^२

उर्वशी रात्र का धर्म है हृष्य में निवास करने वाली। कवि न उस विश्व मानव क हृष्य में निवास करने वाली सनातन नारी का पर्याय माना है। यथा—

जन-जन क मन की मधुर बलि प्रत्यक हृष्य की उर्वशी
नारी की न कलना जरम नर क मन में बसन वाली।^३

यह नारी लुब्धकी होकर भी भवहृष्टी है। यह विश्व पुरुष क हृष्य में ही निवास करती है—

मैं धन कलना मुनक बभु मास बैठ हो
मैं प्रलय तुम हृष्य देनकर मुनकी समन रहे हो
नाम की धारम-जा मानगिक तनया नारायण की।^४

१ उर्वशी (भूमिका) २१

२ वही १७

३ वही ५

४ वही ६६

५ वही ६३

यह तो नारी का कामजवी बप है। मतीत घीर भविष्य मज की सीमा का यह अतिक्रमण कर जाती है। यह मनातन नारी हर पुरुष के हृदय में निवास करती है। स्वयं उबशी के सखा म—कब या ऐसा समय कि जब मेरा अस्तित्व नहीं था ?

कब था ऐसा वह भविष्य जिस जिन में नहीं रहूंगी ?
 कौन पुरुष जिसकी समाधि में मेरी झलक नहीं है ?
 कौन जिया में नहीं राजती हूँ जिसके यौवन में ?
 कौन लोक कीधनी नहीं मेरी हाथिनी जहाँ पर ?
 कौन मेज जिसको न सज में अपनी बना चुकी हूँ ?
 कौन कौन सी बाग घीर रहने हूँ कया कहाँ की ?
 मेरा तो इतिहास प्रकृति की पूरी प्राण कया है
 उसी भाँति नि-सीम आसीमित वैसे स्वयं प्रकृति है।

इस समातन नारी का जन्म बिना पुरुष की समातन पीड़ा से होता है। ऐसा कोई हृदय नहीं जिसमें कामना की पुकार नहीं उठती है घीर कामना की इसी पुकार की बोस पर मनातन नारी नृपा सात करने के सिंग जाती है। स्वयं इन समातन नारी का प्रतीक उबशी अपने जन्म का कारण बतलाती हुई कहती है—

कामना तरसों से अघीर
 जब विरह-पुरुष का हृदय-सिंधु
 आलोचित क्षुभित मथित होकर
 अपनी समस्त बड़बान्नि
 कू म भरकर मुझे बुलाना है
 तब मैं अपूर्व यौवना
 पुरुष के निमृत् प्राणुतल से उठकर
 प्रसरित करती निर्बमन शुभ्र हेमाम कालि
 कल्पना लोक में उतर भूमि पर जाती हूँ

विनमिनी विरह-नर को अपने उत्तम वस्त्र
पर सुजा धमित कस्यो को मधु सुखाती है ।^१

दिनकर की उर्बेची इसी समातम मारी का प्रतिनिधित्व करती है । देश
धीर काष्ठ की सीमा का प्रतिफलण कर वह निःसीम प्रसार में जाती है ।
उसका आत्म परिचय यह है—

‘मैं देश काल से घरे विरह-नारी हूँ ।
मैं धारमत्तन यौवन की निरव नवीन प्रभा
बपसी समय में फिर युवती सुकुमारी हूँ ।
तुम विमुक्त में अपना विकास में जहाँ कहीं भी हो
धन्तर में कैयों धरो ।
सरिता समुद्र विरि बल मेरे व्यवधान नहीं ।
मैं भूत नविमान्, वर्तमान की कृपित बाधा से विमुक्त
मैं विश्व प्रिया ।’^२

इसी विरह प्रिया के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ने कहा है—

‘कानों काने छिने नाकि मुकुमिका बपसी
हूँ धनन्त यौवन उर्बेची ।
अपनि जगल विरहे यौवन यठिता
पूछ प्रसुटिता ।’^३

विरह प्रिया की यही कल्पना दिनकर का काम्य है । पुरुरवा भी
कहता है—

एक पुष्प में सभी पुष्प सब किरणें एक किरण में
तुम संहित एकत्र एक नारी में सब नारी हो ।
प्रतिपुष्प की परिचितता रसाकर्षण प्रति सम्बन्ध का
विरह प्रिया सत्य ही महाराजो सब के सपनों की ।^४

१ उर्बेची, ६३

२ वही १०

३ रवीन्द्र कविता ज्ञानन विद्यासा १३१-३

४ उर्बेची, १०१

डा० हुजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार सर्वशी समष्टि चित्र की उद्गम 'वैतना' का प्रतीक है। उन्होंने पुनः उस 'उद्गम मानस वेद' कहा है। समस्त रूपक को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं : 'सर्वशी नाभ का प्रतिनिधित्व करती है पुनरावृत्ति का और चौकीबारी प्रतिक्रिया का। समष्टि में व्याप्त शक्त की इच्छा को कल्प कहते हैं। सर्वशी, द्विवेदी जी के अनुसार, कल्प नारी का प्रतीक है। उनके चर्चा में कल्पारम्भ में अनन्त काल्य वस्तुओं की भांति सर्वशी की भी उत्पत्ति हुई थी। ऐसा कहा गया है कि व्यक्ति में जो मन है वह समष्टि चित्र का ही व्यष्टिमय रूप है। किसी दिन हिरण्यगर्भ नारायण और समष्टि चित्र के प्रति ईश्वरता मान गए हैं। समाधि में सीन थे। उन्हीं के समाहित चित्र से मनोजन्मा ईश्वरता की भांति इस मनोजन्मा नारी की उत्पत्ति हुई थी। अर्थात् सर्वशी समष्टि चित्र की उपलब्धि है। व्यष्टि चित्र में वह बराबर होती रहती है।'^१

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सर्वशी मानव मन की कामेच्छा या 'निबिडो' का प्रतीक है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह कामना-सिखा ईश्वर की जीवेच्छा है—

अथवा वह अक्षय-सुषमा को स्थापित करने को
अपि सर्वस्य-ममाधि बाँध तन्मय हवि के चित्तन में
बैठे थे निमग्नत तभी नारी मन निकल पड़ी सुष
नारायण की मूर्ति कल्पना से एकामन मन से।^२

इस प्रकार कविता में सर्वशी के स्तुत व्यष्टित्व के साथ-साथ स्नातन नारी बाता रूप भी एकत्र स्पष्ट है। माता के रूप में सर्वशी व्यष्टि नारी की छाया स्पर्श कर लेती है। यद्यपि हुजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कहना ठीक लगता है कि 'सर्वशी कल्प नारी का पूरा प्रतिनिधित्व नहीं करती।'^३

१ दिनकर मृष्टि और दृष्टि २१५

२ वही २१५

३ वही २१९

४ सर्वशी ६२

५ दिनकर मृष्टि और दृष्टि २१२

पुकरवा

जिन प्रकार उर्बंभी ममानम मारी का प्रतीक है उगी प्रकार पुकरवा सनातन नर का प्रतीक है।

यह पुकरवा थी हजारी प्रसाव त्रिवेदी के अनुसार सीमाबद्ध जीव है जो इस उद्दाम मानस वेग का मित्र है।^१ उवगी की भूमिका में स्वयं कवि न लिखा है पुकरवा रूप रज यह स्वर्ण धीर धव्य से मिलने वाले मुख ने उद्गमित मनुष्य है। पुकरवा उन्मत्त में है क्योंकि उन्मत्त में रहता मनुष्य का बर्माव है। मनुष्य मुख की कामना भी करता है धीर धीर उवस धाये निकमने का प्रयास भी।^२ पुकरवा का चित्रण कवि न इसी रूप में किया भी है—

मैं मनुष्य कामना-बाधु मर जीनर बहती है
कभी यह यति से प्राणों में विहरन-पुमक जपाकर
कभी शालियों को मरोड़ जंझ की दास्य यति से
मम का दीप बुझ जमाकर तिमिरपञ्चत्र हृदय को।
किन्तु पुक्य क्या कभी मानता है तम के शासन को ?
फिर होता सचप तिमिर में दीपक फिर जलते हैं।^३

सनातन नर का प्रतीक यह पुकरवा जन्म जमान्तर से इसी सनातन नागी लोग में बचन होकर कर रहा था। उर्बंभी के यह पुक्यने पर कि कौन पुक्य तुम ! पुकरवा उत्तर देता है—

‘जो घनेक कल्पों के घबियाले में
तुम्हें बीजता फिरा तैरकर बरिबार भरण को
जन्मों के घनक कृत्रों वीधियों प्राधनाधों में
पर तुम किसी एक दिन सहसा जिन शुभ मर्चा पर
एक पुक्य में घबित युगों के स्वप्नों की भाषा-सी।’^४

१ दिनकर मूर्ति धीर इति ११५

२ उवगी की भूमिका।

३ वही ६६

४ वही ७४

पुष्करा हर युग में उर्वशी का पुम्बन रसिक पुरुष रहा है। यह तो अवश्य ही समाप्तनगर का ही पर्याय है जो हर युग में नारी के प्राकृतिक प्रयत्नों का पुम्बन लेता है—

जहाँ-जहाँ तुम किसी स्थात में ही मसयानित बनकर
उम्हें घेरता आया है अपनी प्राकृतिक बलियों से।
जिसके भी सामने किया तुमने कवित्व प्रयत्नों की
संगता है मैं ही सबैक वह पुम्बन-रसिक पुरुष था।^१

दिलकर आगे की पक्षियों में इस समाप्तनगर के ही रूप को अधिक स्पष्ट करते हैं—

मरी ही की तथा जिसे फूलों के कुल-मनन में
जन्म-जन्म में तुम आनिपन से हरी आयी हो।
कल्प-कल्प में मुझ प्रणय उद्दिष्ट बलियों पर
मनु पोखरी आयी हो मेरे आर्त-हृदयों का।^२

इस प्रकार पुष्करा के स्तुत रूप से निम्न एक विश्व पुरुष का रूप भी उभरता है।

आयु

निस्तुत के अनुसार आयु का अर्थ भी समुप्य ही होता है। दिलकर के शब्दों में इस दृष्टि से मनु और इन्द्र तथा पुष्करा और उर्वशी ये दोनों ही कथाएँ एक ही विषय को व्यक्त करती हैं। सृष्टि-विकास की जिस प्रक्रिया के कर्तव्य पक्ष का प्रतीक मनु और इन्द्र का आख्यात है उसी प्रक्रिया का भावना पक्ष पुष्करा और उर्वशी की कथा में कहा गया है।^३

गर्भमादन

गर्भमादन भी काम के बीड़ा खेल का प्रतीक माना जा सकता है। यह ऐसा खेल है जहाँ नर-नारी समागत में किसी प्रकार का कोई व्यवधान नहीं होता है।

१ उर्वशी १०१

२ वही १०१

३ उर्वशी भूमिका प

पुकरवा-उबैली धाक्यान पहले से भी अन्योक्ति परक माना जाता रहा है। सर निमिषम विलसम के अनुसार इस कथा की नामिका ऊमा है और नायक मूय। इन दोनों का मिलन प्रतिदिन कुछ ही क्षण के लिए होता है, फिर वे दोनों बिछुड़ जाते हैं। किन्तु, दिनकर का उद्देश्य शृंगेय के प्राप्ति की पुनरावृत्ति नहीं रहा है। उन्होंने उस धाक्यान के सहारे सनादन भर और सनादन नारी की ही कथा कही है। उबैली' में दिनकर अपने पाशों का निर्बलकृता होने में सफल हो सके हैं। हम यह मानते हैं कि यह सफलता वांछित ही है। तृतीय श्रंक ही वह भूमि है जहाँ वे दोनों पाश किसी भी व्यक्ति विशेष की धारणा से मुक्त हैं। तीसरे श्रंक में प्रणय की समाधि में तीन दो प्राणी कोई भी नर-नारी हो सकते हैं। उनमें ऐसा कुछ भी नहीं है कि हम यह कह सकें कि यह व्यक्ति पुकरवा ही है और वह उबैली ही है।

इस प्रकार उबैली एक रूपक-काव्य (Allegory) है।

काव्यालोचन की समस्या और उर्वशी

डा० भदकतसरण उपाध्याय न 'कल्पना' धर्मल १९९१ के प्रक म 'उर्वशी की का आलोचना प्रस्तुत की उसकी व्यापक चर्चा हिन्दी-जगत में हुई। कुछ लोगो न कल्पना के सम्पादकों का आकांक्ष बरे पत्र मिले कुछ साम प्रसन्न भी हुए। विचार सम्बाचना है और हिन्दी के सभी प्रमुख साहित्यकारों ने अपना अभिमत प्रकट किया। किन्तु, जो बात उर्वशी महत्वपूर्ण थी उसकी चर्चा कदाचित् स्पष्ट रूप से कितनी भी संभव न न की। उस समीक्षा में कही गई बात ठीक हैं या गलत विचारणीय यह नहीं है। विचारणीय यह है कि डा० भदकतसरण उपाध्याय न जो कुछ भी कहा क्या वह काव्यलोचन का विषय हो सकता है? यदि वे लघु काव्यसाधन की परिधि में आते हैं, तो वे ठीक हैं, भले ही हम उनसे सहमत नहीं हों। किन्तु यदि वे काव्यलोचन की परिधि में नहीं आते हैं तो डा० भदकतसरण उपाध्याय न एक साहित्यिक अपराध किया है।

उस आलोचना के अध्ययन से जो बात स्पष्ट रूप से उभरती है वह यह कि उपाध्याय जी ने काव्योत्तर मूल्यों को ही अपना निकष बना लिया। काव्योत्तर मूल्यों को ही महत्व देने के कारण वे पुस्तक के मूल्य की कटु भर्त्सना करते हैं, लेखक और प्रकाशक एक होने के कारण नये मॉडलबार की उपहासास्पद अभिधा का निर्माण करते हैं और बिलकर के रक्षा-चित्र की आलोचना करते हुए इति के प्रतिपाद के साथ समता सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करते हैं। यह इसी काव्योत्तर मूल्य का परिणाम है कि वे व्यक्तित्व और कृतित्व को एक ही पारदर्भूमि में दिखाने का प्रयास करते हैं। प्रश्न होता कि उपाध्याय जी इति का दृष्टान्त न लाते। यह बात इसलिए नहीं कही जा रही है कि श्री कृष्णनाथ ने उनके मायसबाही साहित्य के महान अध्ययन की ऊर्ध्व ओल कर रख दी बल्कि इसलिए कि इससे मायसबाही पंक्ति के बारे में निकट रूप का उद्घाटन होता है। श्री उपाध्याय जी का दृष्टान्त जी का चली होना चाहिए कि ऐयस के स्वरूप को उन्होंने भ्रष्ट

क्य न उपस्थित होने से बचा लिया है। यों यदि ऐसी बात ऐंग्ल्स भी लिख गये हाथ तो वह अनुकरणीय घादख कैसे बन पाता? किन्तु, सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह उभरता है कि जो व्यक्ति पुस्तक न पढ़कर भूमिका लिखने के लिए थी नेहरू की आलोचना करता है, उसे वही पुस्तक बिना पढ़े लेखक के पराक्रम पर राय देने का क्या अधिकार है? पुन बिहार यदि उपाधिवितरण की प्रतिपक्ष उभारता दिखाता है तो यह किस दृष्टि से काव्यालोचन की परिधि के अन्तर्गत आता है?

दूनरा प्रश्न जो उभर कर आता है वह यह कि पुराण-इतिहास द्वारा उपनृष्ट कथा को परवर्ती लेखक किन रूप में उपस्थित करे? उपाध्याय जो का आश्रेय यह है कि दिनकर ने कथा को हू-बहू कामिवास से उठा लिया है। उनसे अनुसार 'हिन्दी उर्बची' संस्कृत बिम्बोबची का कथानुवाद हैं। बात ऐसी नहीं है। दिनकर न पुनरुक्त का स्वप्न प्रसव द्वारा कालिदास की कथा को एक प्रबल मोड़ दिया है। ऐसा प्रतीकार्थक स्वप्न कबल अनुनिष्ठ पुन का कवि ही मृजल कर सकता है। पुन 'उर्बची' की सम्राटि पर न ता कालिदास का प्रभाव है न अरविन्द का न रवीन्द्रनाथ का। वह दिनकर की जीवन-दृष्टि का परिणाम है। अतः हिन्दी 'उर्बची' संस्कृत बिम्बोबची का कथानुवाद नहीं है। किन्तु, यदि हमें ही तो क्या यह बलवत होगा? रामचरितमानस के कवि न प्रौढाणिक आक्यान का ही आधार ग्रहण किया। पात्र भी वही है। तो क्या रामचरित मानस आत्मोक्ति की रामायण या स्वप्नचक्र की रचना का ही कथानुवाद है? उपाध्याय जो यदि रामचरित मानस की प्रामाण्यता निकालते तो क्या वही बात निकल सकते थे यदि कोई परवर्ती कवि पुनवर्ती कवि की कथा को उठा लेता है, तो एक आधुनिक व्यवहार करता है। ऐसा स्वयं उपाध्याय भी भी नहीं मानते। हिन्दी कवियों के उत्सव-आलोचक प्रसव न दिनकर की भरसना करते हुए अनमान रूप से वे आत्म-मृजल कर गए हैं। उन्हीं के अनुसार तीन विविध सदियों में होने वाल प्रपञ्च के तीन महाकवियों—धक्षपियर, कालिदास और रामायण—एक ही प्रश्न को एक ही प्रकार से अपने हाथों—ऐंग्लो एण्ड स्मिथोपेण्डा के इन तीन महाकवियों के जा किया दिनकर को वह भी करने का अधिकार नहीं है? क्या इस दृष्टान्त का उपयोग कबल नाया का दृष्टि से ही हो सकता है? क्या मा भी मराकवि ही हैं? उसी प्रकार समारोह प्रायश्चित्त

बासे बिम्ब की कटु आलोचना करने में व्यर्थ की कटुता साईं गई है। स्वतंत्र देश का कवि यदि जनता के प्रतिनिधि की हैसियत से राजधानी में रहता और 'माच पास्ट' देखता है, तो आध्यत्मिक के प्रसंग में इस बात के उत्सर्ग का क्या औचित्य है ? उपाध्याय जी में यदि थोड़ी भी निरपेक्षता होती तो वे एक कर बाद इस बिम्ब के उर्वर्य पर विचार कर लेते। सामान्यता दिनकर ने रोमांटिक बिम्ब ही दिए हैं। किन्तु, यह वह स्वप्न है जहाँ स्मृतियुत श्रेयता के स्तर पर ऊर्ध्व-पातित हो गई है। यहाँ जगत्कार केवल मानवीकरण का नहीं है। दिनकर रात्रि का अत्यन्त मार्मिक रूप उल्लिखित कर सकते थे किन्तु ऐसा उन्होंने किया नहीं। यह बिम्ब तो रजनी की मार्मिकता की अपेक्षा उसकी प्रेम विप्लव विराटता को उजाड़ करवा है। जयराजकर प्रसाद ने कामायनी में रजनी का चित्रण किया है। किन्तु वह चित्रण मार्मिक है, यथा—

पगली हाँ सम्मान से कैसे
छूट पड़ा तेरा बचपन
बस विचारती है मछिपपी
धरी उठा बेमुक्त बचपन।
फटा हुआ वा नील बसन क्या
ओ जीवन की मलबारी।
देख - अकिंचन जगत झूटा
तेरी ज़िंदगी मोली धाती।

प्रसाद की मनुमावकता के बीच दिनकर की प्रांजु विराटता प्रसन्ननीय है। सपना है कैसे कोई सम्प्राप्ति वैभव के आकाशमय में आभिजात्य की गरिबा के साथ वा रही हो। रात्रि के वैभव के इस मूर्त पिथ की पूरी प्रसन्नता नहीं की जा सकती। एक ही स्वप्न पर बार-बार इतिहासों की परिचुति का विधान है। 'कनी जाते इसको देखा है' में मित्र का और मुगल है वह अत्युन्नत मर-मर कोशेष बसन का' में श्रुति 'बुझे हूँ भिन्न म तुमिल वाम स्वेत फूला क ?' में प्राण और सम्मिल-मुकुट के मन्द-मन्द वर्णना से' में अत्यन्त मन्द-मन्दी ऐन्द्रिक लोप मिलता है। समग्र रूप में चित्त पर जो बिम्ब का प्रभाव पड़ता है, वह विराटता जग्य है। किन्तु, डा० भगवतसरण उपाध्याय के लिए यह सब व्यर्थ है क्योंकि किसी में निवास करने वाला हुयारा यह कवि 'प्रवासी है।

इसी प्रसंग में कामविरह-शेष भी विचारणीय है। कोई रचनाकार जब किसी पुरातन संदर्भ को उठाता है तो सत्य यह नहीं होता है कि वह पुरातन संस्कृति का निर्माण करे। यदि वह ऐसा करता है तो काम की बेतना का बाहक नहीं बन सकता। वह प्रतिगामी होकर रह जाएगा। प्राचीन धारणा इसलिए उठाए जाते हैं कि उनका सम्बन्ध हमारे सम्कारों से रहता है। परिणामतः साधारणीकरण में बड़ी मुश्किलें हाँ जाती हैं। यह भी एक कारण है कि जिससे प्राचीन धारणा में कोई बड़ा परिवर्तन कबि नहीं कर सकता। यदि वह कर देता है तो हमारे संस्कार उस स्वीकार नहीं करेंगे। 'मेषमाव-बध' में माइकेल मनुमूदन बल ने परिवर्तन किया और यही उसका प्रममर्शना का कारण बन गया। घट प्राचीन धारणा नव सत्य का धनिष्पन्निव करने के लिए ही भाग जाते हैं। ककाल पुराता रहता है किन्तु जनता एकदम नहीं। इसलिए रचनात्मक साहित्य में कामविरह-शेष छूटने के लिए प्राचीन इतिहास और संस्कृति के निर्जीव तथ्यों को लेकर प्रस्तुत होना काम्यालोचन की सीमा का प्रतिक्रमण कर जाता है। हाँ यह ठा ठाक है कि ऐसे तथ्य नहीं पावें जो पुरातन सत्य में एकदम तमेल होकर हों, किन्तु तथ्यों को छोड़कर धर्मों के जगमग इतिहास छूटना और बात है। यदि कोई धर्म जन्मेद में नहीं है तो उनका प्रयोग धर्म का कबि उस युग के कबानक के सदन में न करे, यह बात समझ में नहीं आती है। इन प्रसंग में 'यवन' शब्द के प्राक्निर्वाह का विवेचन करते हुए धर्मों जो ने जनवरी १९१४ में 'कल्पना' में जो लिखा है वह एक नया संकेत देता है। वह नया संकेत यह है कि हम किसी धर्म की स्थापना के सम्बन्ध में जो कुछ जानते हैं, वही पश्चिम प्रमाणों से हो सकता है। कामिदास ने यदि 'कचुकी' धर्म का प्रयोग किया तो वह सत्य है, किन्तु संस्कृत के प्राचाय' दिनकर यदि उसका प्रयोग करते हैं, तो यह धर्म नहीं है। यह बात काम्यालोचन के किस सिद्धांत से नया या पुराता निर्मूल होती है। हमें नहीं मालूम। इसके मूल में क्या यह धर्म नहीं है कि दिनकर ने 'संस्कृति के चार धर्मों' लिखकर जो धर्मोपपाय की दृष्टि में किया वही 'उर्बेती' के काम्यालोचन का निरूपण बन गया। उसी प्रकार 'मणिकुण्डिम' के प्रयोग की भर्त्सना करने में यह मनोभूति उत्तर कर पाती है कि लोग उपाध्याय जी के विस्तृत ज्ञान में बाकि हैं। किन्तु, कामविरह-शेष के सम्बन्ध में सबसे अधिक हास्यास्पद स्थान नव उपस्थित हुआ है जब उपाध्याय जी ने कला जनता का मनुमय प्रवर्धन धर्म का उल्लेख कर कला विकास के इतिहास का विस्तारण करने समय जाग है।

अपूर्ण 'उर्वशी' पढ़कर उन्हें यह अभिज्ञान न हो सका कि 'उर्वशी' वस्तुतः आर्य-काल की कोई नारी नहीं बल्कि धिरतन नारीत्व का प्रतीक है। 'उर्वशी' एक रूपक-काव्य (Allegory) भी है, क्या यह इतनी गूढ़ बात है कि उस समयका ज्ञान। किन्तु संस्कृति के धारार्थों दिनकर के ज्ञान पर व्यर्थ न मुस्तुरान वाले डा० उपाध्याय जरा अपने ज्ञान पर गौर करमाय। आर्य-काल की कलाओं का निर्माणकाल ईसा के लगभग बारह हजार वर्ष पूर्व तक माना जाता है। श्री भगवत्परायण उपाध्याय न यह निष्कर्ष निकाल लिया कि इन कलाओं का अस्तित्व ही नहीं रहा होगा क्योंकि भारतवर्ष में उस युग की कलाओं के अवशेष नहीं हैं। यह तो दुर्भाग्य की बात है कि उत्कल कला-कृतियों का किसी भी रूप में उपलब्ध नहीं है। परन्तु हम समय-समय के इतिहास पर ध्यान रखें तो इसमें सँका की कोई गलतफहमी नहीं रह जाती कि ईसा के बारह हजार वर्ष पूर्व भी कलाओं का अस्तित्व था। केवल अस्तित्व ही नहीं था बल्कि अत्यन्त ही परिष्कृत और सज्जन रूप में प्राप्त भी वे कलाएँ मिल जाती हैं। उर्वशी की कलाओं के अस्तित्व के समग्र पुरातत्त्ववेत्ता सताबीराम न अस्तामीरा की गुफाओं में जिस चित्रकारी को इह निकाला वे अपनी सम्भावना में अद्विष्ट हैं। प्रायः यूरोप के पुरातत्त्व वेत्ता इस बात से सहमत हैं कि अस्तामीरा गुफाओं की चित्रकारी ईसा से बारह हजार वर्ष पूर्व की है। बाव में तो पुरातत्त्ववेत्ताओं ने समय-द्विष्टी यूरोप को गौर दिया और ऐसी कला-कृतियों के अनेक उदाहरण इह निकाले। प्रख्यात डा० उपाध्याय सर बिलियम प्रोपेन द्वारा सम्पादित पुस्तक 'दि प्राइमल मैन ऑफ़ आर्ट' के प्रथम परिच्छेद को पढ़ें उसमें दिये गये चित्रों पर मनन करें और अपने ज्ञान को ताजा बना लें। पुनः 'अर्य' शब्द का प्रयोग आर्य-काल में नहीं है, यह कहकर आलोचक न अत्यन्त ही सीमित और छकीछुं इन्टिक्शेन का परिचय दिया है। क्या आर्य-काल जिस रूप में उपलब्ध है, नहीं उसका समग्र रूप है? क्या उसकी सभी आकांक्षें प्राप्त हैं? प्रश्न उस युग के सभी विज्ञान उपलब्ध आकांक्षों से ही समझे जायेंगे? और यदि जो वस्तु आर्य-काल में नहीं है वह उस युग में नहीं हो भी? यह सब कौन बतला सकता है? कालविच्छेद-कार्यों में यह तो व्यक्त होता है कि उपाध्याय जी को इतिहास और संस्कृति का कुछ ज्ञान है किन्तु आलोचना के प्राथमिक सिद्धांतों से भी वे परिचित हैं यह हम नहीं कह सकते।

ठासरा प्रल काव्य में सत्य क स्वकप का लेकर उठता है। उपाध्याय भी न मुक्तपक्ष की शादही के 'तारों भर गगन' क सम्बन्ध में सिद्धा है चन्द्रमा द्वारा दीपित मुक्तपक्ष की शादही का धाकाव क्या ठाव नरा हो सकता है कि उपाध्याय भी ठीक कहत हा किन्तु, क्या यह इतना महत्वपूर्ण तथ्य है जिसका उल्लेख काम्यालोचन के प्रसंग में किया जाना चाहिए ? 'नाम नीर पर नीरी क बूट' कितना दूर-दूर पर काड़े गए हैं प्रल यह महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण यह है कि काव्य-सत्य का स्वकप क्या है ? कीटस की 'व ईन धावसेट एममय' नाम की कविता में एक नायिका का बसुन बाया है जिसमें वह एक कमरों में लटी है बावनी रात है और बिटकी नी कोष स धन-धन कर धान बासी रोषनी कई रगा क काँच रहने क गरण मरीर पर कइ रग को हा जाती है और उसमें वह नायिका खिम लटी है। एक धामोचक न अपनी बुद्धि की प्रखरता का परिचय दते हुए इ बतमाना कि चन्द्रमा की किरण में ऐसा नहा हाता है। एसा तो सून न। किरण में ही होता है। बाव ठीक है किन्तु, उसका उल्लेख समत बेकबह समकत' इसी धामोचक को उत्तर दत हुए कादम्ब न कहा कि मुन्दर ही सत्य है और नत्य ही मुन्दर है मुम्हें इतना ही जानन की जरूरत है।

नीसा प्रल काव्य न उपमान-भावना क धीक्षित्य का लेकर उठता है। उपाध्याय जो न इस प्रसंग में जा बावें उटापी हैं वे सबसे अधिक भयंकर हैं और हन बार-बार पड़कर ना यह विस्वास नहीं हाता है कि यह किसी धावान के द्वारा कहा गया है। काव्यमास्त्र क धावकार प्रकरण का यह एकदम तब ही सिद्धांत है कि उपमारों एक रक्षाय हाता है। किसी को गवा कहा जाता है तो सकेत कबल उसकी मुक्तता स रहता है। यदि कोई यह समझ कि वह धावी का क्वातिसम्भ बाहन है और उस पर कपड़ा सादा जा सकता है, तो उस हम समझ भी कैस मुकमे ? उपाध्याय जो का कुछ का समझ रहन पर धार धापति है। वे निश्चय हैं 'कुच कम्प होकर किर कुच नहीं रह जाएगा बस पर नहीं जब उस धिर पर धारण करना पड़ेगा तिमन रस मय होमा। सड़की तो जान है कई प्रीति भी पड़े द्वारा धपन पना तो उनमा से सीख उटती। फिर कम्प चन्द्र मिट्टी का हा बाह कनक' का है वह पड़ा ही। कनक' का हान स ता उस परम हाप म मने पने की कटिनाई वह ही जागदी काकि गरम हाथों को धावपकता

बाहु-कमल की नहीं ऐसे पद्म के कलश की है जिसके स्पर्श से उच्छ्वस कर ठंडे हों वैम साहित्य में काम की परम्परा में, गर्मी में भी भारी मोतम उन्मुक्त नर को उष्ण कर को ठंडा करती है। जिस शक्ति को प्रसन्न कर शास्त्र का सचही ज्ञान होगा वह भी ऐसी बात नहीं सिखेगा। यदि ऐश तर्क का आश्रय लिया जाए, तब तो जो पद्ममुखी कहलाती है उसके घर में बिजली चलाने की आवश्यकता ही नहीं पड़े। फिर चन्द्रमा का इतना बड़ा मुह किस घर में घटिगा ? चमत्कारवासी बिहारी ने इसी तर्कभाव का सहारा लेकर 'पद्म ही तिथि पाश्ये का घर के चहुँपास' लिखकर अपनी सद्बुद्धता के प्रभाव का परिचय दिया था। वस्तुतः उपमान एकदोषीय होते हैं। कमल मगन के प्रतीक हैं। मगन कलशों को हाथ पर रखने की प्रतीति है। उसका कलक' विद्यपण्य कांति को संकेतित करता है। पुनः कमल घेत्य प्रदान करता है। इसलिए उष्ण कर प्रसन्न ही उसके स्पर्श से वलित होंगे। मम्मट ने लघु-विषय प्रसन्न में बताया 'बोय' का उदाहरण दिया है। यदि उपाध्याय की तर्क का आश्रय लिया जाए तब तो पद्म की बात में मला बोय की क्या हिमाकृत होगी ठहराने की। उसी प्रकार उपाध्याय की बात के रचने वाली बात नहीं समझ पाते हैं। चाँप कामधियन प्रतीक है। वह काम सुभा का प्रतीक है। सोन' विद्यपण्य को थोड़कर दितकर ने इस बिम्ब को और प्रभावशाली बना दिया है। सोन' कामना का प्रतीक है। रचने शब्द से कलाप मारने वाली बातना की धक्कतता व्यक्त हुई है। इस बिम्ब का प्रयोग दितकर ने पहली बार 'नील-कुमुम' में सङ्गृहित 'स्वप्न और तत्त्व' शीर्षक कविता में किया है। 'उर्बशी' में यह बिम्ब वहीं से आया है। सच तो यह है कि इस बिम्ब ने हमारी भाषा की अनिश्चयता शक्ति को बताया है। 'कलश' सीमाता की ही तरह स्वभा की गीत टूटना' की धानोचना की शैक्षिक-परिशीलता और सद्बुद्धता के प्रभाव की सूचना देती है। स्पर्श मुख से स्वभा के रोम रोम कटाकित हो जाते हैं। जमने एक विद्युत का लज्जित हाता है। इसका आधार वैदिक है। दितकर ने इसी लक्ष्य पर हम शक्ति-वर्ध का प्रयोग किया है। उपाध्याय की जब 'कुमुम-कुल' के प्रसंग में संयुक्त कोई कल्प-विधा की कल्पना करते हैं तो हँसी मारी है। कुमुम कोमलता का प्रतीक होता है। उससे एक सुरभि छूटती रहती है। इसीलिए दितकर ने उसे सुरनित विषयम यवन' कहा है। वह वेद कुपुमों के पुत्र की ही तरह प्रसन्न और माहक होता है। प्रयास का शीघ्रता यही है। कुमुमों का धाड़कर कुल का प्रमुखता प्रदान करने का यह परिणाम है।

दिनकर ने मुझ से चट्टान की उममा दी है ता महसूस उसकी 'बीहार्ड' में नहीं किया गया है। उपाध्याय जी यह बीहार्ड कामी जान कहां में पाए हैं, समझ में नहीं आती। चट्टान तो मग में कठारता का व्यक्त करती घायी है। अभी उच्छका मय है। इस मय में उसका प्रभाव कम हो गया है। मुझाए पुरुषवा की हरी ही कठोर भी उसका कठर मूढ रहो होगी दिनकर कहता नहीं चाहत है। मध्य भारतीय साहित्य में 'चट्टान' का उपयोग इनी कठार बन का व्यक्त करने के लिए गया है। इसी राय में यह धारणा किनी रूप में प्ररित हाकर वापस नहीं मिली घनी है। इसका नेत्र का बन्धुत काव्य धाम्य की सटही बातों का भी ज्ञान नहीं है और वह धाम्यमन बना है काव्य की दानिध्वजता पर।

गावकी इस साधक की सहृदयता और संविनशीलता के लकर उठता है। क्या साधक कबल धाम्य विज्ञान ही हुना है प्रयवा उस नहुदय भी हुना चाहिए? उपाध्याय जी की समीक्षा पाठक का जान जानने घायी है यह यह कि इसका नेत्रक पाठक विज्ञान तो नहीं ही है माय ही उसमें साधारण पाठक की सहनभासता भी नहीं है। ब मिलत है प्रयवमता में जाह घादमी को 'मा का बंध' पाह घाता हा मकट में नुकी का धैर्याकम दाह घाता है यह कल्पता बलि की घपनी हो सजती 'बन्धु नामान्य मर की कटई नहीं है। घुषनी का धैर्याकम बन्धुन मकट में घूम गया कता है। धम्या हाता कि उपाध्याय जी की संविनशीलता में लिखत लिता भी तो कल्पता 'म म सापटी, क्याकि 'सम उपाध्याय जी का जो रूप उभरता है वह धम्य ही कवेन मूल्य धम्य का रूप है। धम्याकम एक ल धम्य प्रयोग है। तातम है प्रयवी का स्मृति में। धम्याकम कवि नापी का प्ररण का जल समन्ता है यह पुरन में स्मृति का मचार कता है। उस स्मरण कर पुरा परमम को स्मृति में बचना जाता है। मक ता यह है कि प्रयवम मय ध्यायकानी उपाध्यायकार भी नापी का इस हृदि में देखत थ। उनका माधम मय धम्य को ध्यायकारी उपाध्याय में भी नापी धम्यमी धरी हृदि को उभरता है। निवा और प्रो० मेरना को कबूती नहुता हारत-हारत जोत गए। इस जीव की ध्याय करत है नुम धाम्य एक नया अनुमन हृद्य। महिमा की महाभूति हर को जीव बना मकती है बन्धुता हापी मय नहुता में मयता को महाभूति घनता धार हाकर माति में बचने के लिए पयवम को विजय में परिचित

कर दिया। मिरासा की राम की शक्ति पूजा व यह दृष्टिकोण और रूप में उपस्थित होता है। यदि प्रस्तुत हो गया था और ज्योति के सिधे राम और रावण के अपराधों के समर में बाबा राम के पराक्रम को सना था। बाबा उनके सभी तीव्र प्रहार निष्फल हो रहे थे। समय कुछ विराम हुआ और राम समुद्र के किनारे किसी धानु पर सेनाभ्युत्थान के साथ विचार विमर्श के लिए बैठते हैं किन्तु समय स राम का मन विकल हो उठता है —

स्मिर राघवेन्द्र को हिंसा रहा फिर-फिर सशम
रह रह उठता जगजीवन में रावण जय जय

इसी संकट के क्षण में राम को भावी पराजय की स्थिति की कु सीता की कुमारिका छवि का स्मरण होता है। फिर मिरासा प्रत्यक्ष प्रणामी से पुष्पवाटिका मित्र का विश्व बीच बैठे हैं प्रथम स लतान्तराल मिलन भयनों का भयनों से प्रिय भोपन सम्भाषण कापते किसलय भरते पराज समुद्र स्वर्गीय ज्योति प्रपात प्राप्ति और इस प्राप्ति ही हर अनुभूति को पुनर्निर्माणों उठा हस्त। नारी प्रेरणा का होती है, व्यक्तित्व यही होता है। सभी भूपात्रों में केवल राम ही अनु समर्थ हो सकें वे इच्छा कर सकें यह है कि सीता के कौमार्य को पुष्प म केवल उन्हां देखा था। इसलिए उनके हृदय में स्मृति की दाह की प्रकर कामना थी। इसलिए उनमें विषय विजय की भावना प्राप्ति संकट में मुक्ति का अम्याकल याद आता है, इसकी सार्थकता यही है। प्रकार जपाध्याय जी 'माँ का बख' का मर्म भी नहीं समझ सकें। तान्य माँ ही हैं। 'माँ का बख' पुरुष के लिए भयानक और शक्ति दोनों मान का साधन होता है। हमका भी स्पष्ट दृष्टान्त राम की शक्तिपूजा में उपस्थित हुआ है। शक्ति-मराजना में जीन राम जब अन्तिम इन्दीव इन्दीव पर नहीं पाते हैं, तब असफलता को सामन देखा बिह्वल हो उठते किन्तु इसी समय राम को माँ की याद आती है वह माँ जो प्रलय का प्रलय कोष देती है— कष्टों की माता मुक्त सदाशिव नयन। हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जपाध्याय जी साधारण पाठक की सहृदयता का दाय है।

कि उर्बेसी की भाषा किस कोटि की है बरन् यह कि उपाध्याय जी ने काव्यासौजन के प्रसंग में भाषा सम्बन्धी छिन नुटियों का उल्लेख किया है वे क्या विचारणीय भी हैं ? इस प्रसंग में उनका पहला धाक्षेय मुहावर के किञ्चित् विवृत रूप को लेकर है । प्रीति जब प्रथम प्रथम आगती है । प्रथम प्रथम के प्रयोग पर उपाध्याय जी को आपत्ति है । उनके अनुसार पहले पहल होना चाहिए । क्या उपाध्याय जी यह नहीं जानते कि कविता की भाषा गद्य की भाषा नहीं होती है । कविता की भाषा का गद्य की भाषा की ही तरह बाजार और व्यापार में भी चलना चाहिए, यह बात दूसरी है । किन्तु व्यवहार के अन्तर्गत पर उसकी धनक सीमाएँ रहती हैं । कबल सुन्दरता मात्रा का ही प्रश्न नहीं रहता है, मति-मति की आत्मा को भी समझना पड़ता है । उपाध्याय जी का सुझाव है कि पहले रख देने से कोई बड़ी सति नहीं होगी मात्रा रूप्य की चिन्ता उन्होंने नहीं की क्योंकि उर्बेसी में प्रत्यक्ष यह नुटि कहीं है । पहले सुझाव के अनुसार पठि पठ सी जाय—‘प्रीति जब पहले-पहल आगती है । उपाध्याय जी क्या अब इस पठि को कुक्कुन्दी भी मान सकते हैं ? उसी प्रकार दूसरे मुहँ वाला सुझाव भी प्रकाश्यात्मक भौड़ा । दूसरा धाक्षेय उत्सव के प्रयोग को लेकर है । दिनकर स्वयं भी ब्रह्मचर्य भाषा के हिमायती नहीं हैं । यह ठीक है कि ‘उर्बेसी’ में कई धम्मी का प्रयोग कर्ण-कटु सयता है । किन्तु उसकी भयंकरता उपाध्याय जी ने एक ही आह एकत्र कर बड़ा दी है । हम एक बात और नहीं समझ पाते हैं । उपाध्याय जी कई अवह वा यह धाक्षेय करते हैं कि दरम जैसे शब्द शब्देद में नहीं हैं, परत उनका प्रयोग वाङ्मयीय नहीं तो फिर ऐसे उद्भव प्रयोगों की बकासत क्यों करते हैं वा शब्देद में तो नहीं ही हो सकते हैं । उपाध्याय जी दूसरी बात क्यों कहते हैं ? उर्बेसी की भाषा धम्मी है या बुधी यह प्रश्न दूसरा है । एक ही व्यक्ति का दो नामबडों का उपयोग एक ही आस्थापना में करण क्या अधिकार है ? तीसरा धाक्षेय प्राम्य प्रयोगों से संबंधित है । इस प्रसंग में उपाध्याय जी ने महा रानी’ देह करेगी बीभी’ प्रम बेवता’ धादि सम्म का उल्लेख किया है । महारानी प्राम्य प्रयोग है यह कथन भारतीय काव्य शास्त्र का उपाध्याय जी का मूलन अवधान है । ‘बीभी’ शब्द बड़ा ही व्यञ्जक है । जीवन के उतार के ताव-साव धरार की कसावट गिबिल पड़न सपतो है । इस बात का यह पम्ब बहुत ही धम्मी तरह व्यञ्जित कर देता है, बीमापन’ पिबिलता छोटित करता है । प्रसाद न मन के बीसेपन की चर्चा कामायनी’ में की है— पर

मन नी क्या इतना ठीसा धपने ही होता जाता है। चौथा पाछेप किसी मध्य भाषा धमका धम्य कवियों के वाक्य संज्ञों के अनुवाद स सम्बद्ध है। इस प्रसंग में उपाध्याय जी ने मेरठ जनपद के प्रयोग का प्रमाण मागतें हुए हम भरती हैं। 'हम फिरती हैं' (पृ० ६), हम बरसाती फिरती (पृ १०) धावि को उद्धृत कर दिनकर धीर ध्याव से बिहार पर लीखा व्यंग्य किया है। उपाध्याय जी हिन्दी भाषा की प्रकृति से बाकीफ नहीं हैं। मध्य-देश की वह भाषा जिसने संस्कृत के स्थान पर मध्यदेशीय संस्कृति के बहुम करन का दामित्व उठाया हिन्दी कहलाती है। इसलिये भोजपुरी क्षेत्र क कबीर मैथिली क्षेत्र के विद्यापति धबधी क्षेत्र के तुमसी धीर ब्रजभाषा क्षेत्र क मूरदास में भोजपुरी, मैथिली धबधी धीर ब्रजभाषा भी उतनी ही है जिसनी कि धाव की लड़ी बोली में लड़ी बोली। जिस कवि ने समग्र मध्य देश को ध्यान में रखकर लिखा वह हिन्दी का कवि हा सका धीर जो अपने जनपद की सीमा का प्रतिष्मण न कर सका वह बोली का कवि मात्र झाकर रह गया। इसलिये सूर की भाषा में पंजाबी धीर भाजपुरी क नी प्रपाय निखते हैं। जो लोग कविता में केवल मेरठ की लड़ी बोली को ही प्रमाण मानन को कटिबद्ध है उन्हें हिन्दी भाषा की प्रकृति का सूक्ष्म ज्ञान नहीं है। पाँचवा पाछेप किसी प्रसिद्ध कवि धमका धम्य भाषा के वाक्य लडा क अनुवाद स संबंधित है। उपाध्याय जी ने बड़ी कठिनाई स दो चार उदाहरण दूँक निकाले हैं। जैसे—'बाली रजत मीन कंचन' 'दास न र शबुठा नुरो से हमें दनुज बाहो में कवि प्रसी एक ही तत्व है धादि। हम हम सम्बन्ध में यही कहना है कि जब तुमसीदास को उपाध्याय जी क्या कहें। जो लोग काव्य में उभरने वाली समग्र-जीवन-दृष्टि को उपधित कर कुछ वाक्य-खंडा के अनुसंधान में ही रम लेते हैं, उनकी प्रतिभा की प्रशंसा तो करन ही। काव्यगत मौलिकता की इतनी सतही खर्चा हिन्दी धारोचना में धीर कही देखने को न मिली। धी नयनत धरण उपाध्याय के उस निबन्ध का पढ़कर मैं ही मुख्य प्रदन समरते हैं। हिन्दी काव्यालोचन के क्षेत्र में धजीव सकीर्णता धा गई है। धाव हिन्दी का कवि काव्योत्तर मूर्खों से भाषा जाता है। इसीलिए 'कल्पना' के एक पत्र लेखक का पत्र पर न उतर रह बीनी मामुर्षों स नहीं बस्कि परपुराम की प्रतीक्षा' स भारतीय प्रगतत्व का धविष्य धतरे में विलसाई पड़ा। यह एक अद्भुत बात है कि जहाँ धी नेमिचन्द्र क्षेत्र 'उर्बेची' को धाधुनिक प्रकृति का काव्य मही मानत हैं। वही धी भारत-भूपण धधवास उर्बेची को धत्पाधुनिक प्रकृति का काव्य मानत

है। इन प्रश्नों में हम इतना ही कहेंगे कि पुरुरवा की जिस छिपा का चित्रण
 मिलकर न किया है वह कोई धातुनिक युग का कवि ही कर सकता है।
 इसी काव्यालोचन को यदि जीवित रखना है तो उसे काव्येतर सीमाओं
 में प्रतिबन्ध करना होगा। काव्यालोचन के सभी नियम णांभी प्रयत्न
 वास्तव से नहीं प्राप्त किए जा सकते हैं। प्रयत्न डा० रामबिलास वर्मा की
 शानी बाहिए जो काव्येतर आद मन्त्राङ्गों में उत्पन्न कर नहीं रहे गए।

उपलब्धि और सीमा

कई दृष्टियों से 'उर्बंशी' का महत्त्व खड़ी बोसी काव्य के इतिहास में प्रमाणित है। इसके द्वारा खड़ी बोसी की सामर्थ्य के नये आयामों का उद्घाटन हुआ है। भाषा की दृष्टि में निहित जो माधुर्य होता है उसका उत्कृष्ट 'उर्बंशी' में है। वर्तमान काव्य जो कई सूरों में जीव-जड़ता से भर रहा था उस नव की परिणति 'उर्बंशी' में हुई है। तथापि 'उर्बंशी' वह काव्य नहीं है जिसकी प्रतीक्षा हिन्दी का पाठक 'आमापनी' के प्रकाशन के बाद कर रहा था।

महाकाव्यत्व

'उर्बंशी' महाकाव्य नहीं है। स्वयं बिमकर ने सिद्धा है। महाकाव्य एनी निम्ना जाता है जब युग की घनेक विचार धाराएँ बेग से बहती हुई किसी महासमुद्र में मिलना चाहती हैं। जब ऐसी घनेक धाराएँ बेगबन्त प्रवाह में होती हैं तभी महाकाव्य की रचना का समय आता है और जो कवि उनमें महामिसन के लिए सागर का निर्माण कर सकता है, वही महाकाव्य लिखने का अधिकारी होता है। महाकाव्य की रचना मनुष्य को विकल करने वाली घनेक माधुर्याओं के बीच सामर्थ्य खाने का प्रयास है। महाकाव्य की रचना समय के परस्पर विरोधी प्रश्नों के समाधान की चेष्टा है। जब परम्परा से धानेबाध महान् प्रश्नों और भावों की धनुभूति में परिवर्तन होता है तब मनुष्य का संस्कार भी परिवर्तित होना सभ्यता है तथा इस परिवर्तित संस्कार को चित्रित करने के लिए ही महाकाव्य लिख जाता है। संक्षेप में, महाकाव्य नव युग की समय चेतना उसके ताप उसकी व्यापक उसकी भाषा का वर्णन होता है जो मनुष्य को मानववासी प्रश्नों का समाधान मानव के धरातल पर उपस्थित करता है।

उपसी में ऐसा कुछ नहीं है। समग्रता में जीवन की व्याख्या की तो बात ही दूर है घनक विचार बाराघों के बयबल प्रवाह की कोई भाँकी भी नहीं है। महाकवि युग क ताप को चीरकर निकलता है, संघर्षों से जूझता है उसका काव्य में इस समय की निकलता खूबी है। 'उपसी' क कथामक म इस मापक कविबाव (Canvas) का प्रत्य ही नहीं उठता है। हाथी बाँठ पर एक छोटी-सी सूबसुरत तस्वीर घबराव बनाइ जा सकती है पर निश्चय ही उसम घमन्ता और एलोरा की मुष्काघों की बिगटता और बिबिधता नहीं घा सकती है। ऐम काव्यों को कनी भी महाकाव्य नहीं कहा जाता। कानिदास का 'मबरूत घस्यन्त ही थपठ काव्य है, परन्तु कानिदास की लघुता क कारण उस किवी न महाकाव्य नहीं कहा है। 'उपसी' में कहीं-कहीं घबल ही थपठ काव्य की गरिमा है, किन्तु महाकाव्य की उपासता व्यापकता घानीय और स्पासय का निबाँध नहीं हो पाया है। डिबासस्त मनुष्य की घाकुलता का बजाइ चित्रण है, किन्तु डिबा की कुहा को चीरकर घयावान को कुनी घूप कही नहीं है।

पुकरवा अत्याधुनिक नावबोध की उपज

यह डिबासस्त मनुष्य पुकरवा है। यह पुकरवा बिमकर की अत्याधुनिक परिषतन। (Ultra Modern Consciousness) का बिमखण उदाहरण है। बिज्ञान न जहाँ मनुष्य की पुपनी माम्यताघों का धम्य किया वही नई माम्यताएँ मुम्बिर नहीं बन सकी हैं। बिज्ञान का रय जब घाया तब उनने पहला घन्का घर्म के बरूतरे का लिया। मनुष्य क हाथ न बधुनार घक्ति कग्नित हा यह और उसकी ईश्वर उपासना में उतनी उत्कटना नहीं रह गई। घानी मनुष्य की घालिकता कुछ शीली पड़ी। किर, प्रकृति पर मनुष्य न बिजय प्राप्त की और प्राइतिक जीवन न बहु बिमुख हाव तथा। नजीजा यह हुआ है कि घाज के मनुष्य का जीवन-घापन म तो निघर्ष-विड है और न उसकी मास्तिकता घुब "उत्कट"। घाज का मनुष्य स्वयं एक प्रदन चित्त है। वह बिबिध उल्ट म उसम गया है। घाज बड़ घब भी करता है, उसकी पयुता घब भी मय है। तब गृहज हो उतक दलत्व म इसे घागंका होने मपती है। किर भी घाज क रंक म रंककर नी घकरखीय घाघरणों क ठेठन भर जत म दूर कर नी उसकी मनुष्यता मरो नहीं है। घब नी बहु चाहता है कि पणय का मनु बाँधकर मिट्टी को घाकाय घ म्याह दे। बिज्ञान न, घाज क नब चिन्तन में उसकी घमस्या का और भी उमम्य दिपा है।

यही पुनरुत्थान है। उसका संघर्ष 'एकैकिक' है। उसका प्रेम वास्तविक है। यह प्रेम किसी साहसिकता को जन्म नहीं देता है। भाव के द्वारा कमलों के कर्मक्षेत्र का जो विस्तार होता है, 'उर्वशी' में उसकी कोई भाँकी भी नहीं है। पुनरुत्थान के व्यक्त विरह की उद्दाम निकलता का कोई प्रीतिभाव नहीं है। कवि भाषण की इस उद्दामता का व्यापार के बराबर पर कोई सामाजिक नहीं उपस्थित कर सका है। 'उर्वशी' को स्वयं इस बात की शिक्षा मिली है कि उसका मिशन 'संसार की मर्याद' रचना ही सम्भव हो सका है। पुनरुत्थान केवल इस धरोहर बैठा रहा कि उसके 'मन का बाह्य' जलन पूज को देव उर्वशी के मन को छेद कर देता और वह प्रत्यक्ष पर स्वयं जमी भावगी। पुनरुत्थान का यह तर्क कि उसमें न तो कभी दूसरे के स्वाधीन मुकुट पर हान बढ़ाया और न कभी दूसरे की बसुबा हरन का संघर्ष किया उसके वास्तविक उत्कर्ष को अवश्य छोटित करता है परन्तु इससे उसके उद्दाम प्रेम का प्रीतिभाव नहीं छिन्न हो जाता है।

उमर से देखने पर तो ये सारी बातें दिनकर के पक्ष में नहीं पड़ती हैं और लगता है कि कवि ने एक वैज्ञानिक पात्र की सृष्टि की है। पर बोड़ी भी पहचान में आते ही दिनकर के विरुद्ध 'विजय' (Vijay) से हमारा परिचय होन लगता है। कालिदास की तरह दिनकर का पुनरुत्थान यथार्थ कर्म के बराबर पर नहीं छतरता है। दिनकर केवल उसके पराक्रम का कुछ कवन करते हैं। किन्तु, इसीलिए ऐसा लगता है कि दिनकर का पुनरुत्थान प्राकृतिक मनुष्य की शिक्षा का सबसे बड़ा प्रतीक है। भाव के मनुष्य का कर्मपक्ष निश्चय हो गया है। भाव का मनुष्य चित्त में लम्बी-लम्बी बात करता है पर कर्म में वह कदाचित् ही कभी प्रवृत्त होता है। भाव के मनुष्य का संघर्ष अधिक वास्तविक और 'एकैकिक' ही होता है। गंदे का फाइलर इसी कोटि का मनुष्य है। शेक्सपियर का हैमलेट ऐसी ही परिकल्पना है। उर्वशी जब जमी जाती है, तब पुनरुत्थान उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगा देता है, लेकिन वास्तविक क्रिया में प्रकट नहीं होता है।

पुनरुत्थान और मनु

यही स्थिति कामायनीकार के समक्ष भी थी। कामायनी में मनु अपनी परिस्थिति को छोड़ दृढ़ता की धोर लगभगते हैं। 'उर्वशी' में भी पुनरुत्थान प्रीतिमयी को छोड़ उर्वशी के प्रति आकृष्ट होता है। किन्तु, मनु की

रति में इतना ग्धार था कि वे धकेले नी राजबड को बस दना मकते थे।

‘रत्नोद्भूत मनु का हाव न धव भी इकठा था।
प्रजापति का नी न किन्तु साहस झुकता था।’

यह मनु एक बर्बर मनुष्य है। इसका जीवन प्रकृति से एकाकार है। केन्तु प्रकृति को यह चीज नहीं सका है। ससृष्टि की जा उपलब्धि हाजी है उस इसका परिचय नहीं है। नमिली भडा की ओर यह इच्छा मरे नमन से निहारता है और उसकी दृष्टि से धामधण का राग न पाकर उस ध्यात होता है। गिप्टता उसकी कोई विषयता नहीं है। संयम उसकी प्रकृति नहीं है। डीक इसक विपरीत पुररवा पूर्ण मुसक्त मनुष्य है। मनु न बर्बर प्रकामकता है पुररवा में ससृष्टि की जोरता। पुररवा ही ऐसा कह मकता है—‘बिर हउत है इस कृपाकुता क हित। प्रसाध और दिनकर की दृष्टि में यही धन्तर है। ‘मनु’ एकदम धनपड मनुष्य है। पुररवा में धनमिजाय्य का सधार है। इसीलिए उसकी रति निराशा और बियोग की बटान से टकराकर धम्मास की ओर मुड़ जाती है। हाय रे। धाधुनिक मनुष्य का धाम्य। वह कर ही क्या सकता है? धाव के मनुष्य का कवि बितना प्रत्तर है उसका बाधनिक उठना ही प्रबल। वह खरित व्यक्तित्व है। कम की कठोर भूमि पर उसक पर उतरन में सकुचाते हैं। इसीलिए उसक जीवन की धमिम परिलुति उनके भावना क अनुभूत नहीं होती है। उसकी कामना की धवा किसी मित्र की बटा में घटक जाती है। पुररवा हिन्दी का ‘हैमसेट’ है। एसा विजन (Vision) कोई धालाधुनिक दृष्टि से सम्पन्न कवि ही देख मकता है। हिन्दी कविता के सहस्राधिक वर्षों के इतिहास में पुररवा बिलसण निर्मास है। हिन्दी कविता के नायकों की ‘मैलरी से यदि पुररवा को निकाल दिया जाय तो वह मैलरी प्रनाहीन हो जायगी।

इस पुररवा की वैराइय एकाएक नहीं हुई है। हुंकार की ‘भविष्य की धाहट’ धौर्यक कविता में दिनकर एक एय ही मनुष्य की प्रतीक्षा कर रहे थे। इस पुररवा को परबाप कुकमेन म भी सुनाई पड़ती है। सतम संय में ‘उपनिष के सोच कचन सा जलन वाला पुररव’—यही पुररवा है दिनकर की

प्राकृत बेतना इसी पुनरुत्थान की खोज में धन तक थी । धर्मकार भरी हुई बीमारियों से होकर मानवता का कारखाना पुनः क धिक्कार की धार बढ़ता था । हर युग बार-बार इस धर्मकार में पछाड़ खाकर निरुत्था था । सक्रिय मनुष्य की धर्म-यात्रा सम्ब नहीं हुई है । इसी का प्रतिकल्प पुनरुत्थान है । किन्तु 'उर्बेची' की अन्तिम परिणति कवि की धपनी भावना के अनुकूल नहीं हो सकी । अन्त में नारी 'पूजा सम्ब विष्णु विष्णु' और 'वैदिक सिद्धियों' की नृत्ति के लिए सदियों से उपेक्षित होय नारी ही बनकर रह जाती है । सहज ही यह बात मन में उठती है कि उर्बेची मनुष्य की इस परिणति पर एक ध्येय (Saire) तो नहीं है ? पुनरुत्थान सम्बन्ध सत्तर बल बेता है । इससे निष्कर्ष तो यही निकलता है कि काम मोक्ष का सहज मार्ग नहीं है । मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति के लिए रुधिर और वास-पुष्ट की समसन्ताहटों से ऊपर उठना ही होता । पुनरुत्थान की यह द्वेवही सम्पूर्ण मानवता की द्वेवही है । और यह पुनरुत्थान इस द्वेवही का प्रतीक है । यह पुनरुत्थान ऊपर ऊपर से भोग में डूबा हुआ है किन्तु, नीचे से विपण्य । उन के बराबर पर यह मनुष्य है किन्तु, मन के बराबर पर सम्पासी । प्राकृतिक सम्बन्ध और संस्कृति की सम्पूर्ण संश्लिष्टता का प्रतिकल्प है यह पुनरुत्थान । उसकी उत्तमम्न प्राकृतिक सम्बन्ध की उत्तमम्न है और उसकी द्वेवही इस सम्बन्ध का विवर्धन । दिनकर के मन में इसी मनुष्य का विवर्धन (Vind) रहा हागा जिसको व्यक्त करने के लिए उन्होंने कुक्षेय में लिखा था— 'भ्योछावर इस एक पुरुष पर कोटि-कोटि सम्पासी । नहीं वह पुरुष है । दिनकर की राष्ट्रीय कविताएँ काल धमी नहीं बन सकीं सूर और बिहारी की समृद्ध परम्परा में उसकी प्रथम सम्बन्धी कविताएँ छायाद धपना भाकपण को बैठें किन्तु, इसी पुनरुत्थान के कारण हिन्दी साहित्य के इतिहास में उनका स्थान अधुप्पस रहा । यह उनका विसमस्त निर्माण है ।

रति-विकास का क्रम

'उर्बेची' में रति का कोई स्वाभाविक विकास भी नहीं मिलता है । प्रेम के सम्बन्ध में कवि का इच्छिकाण रमानी है । उर्बेची और पुनरुत्थान का प्रेम किसी सम्ब साहचर्य का परिणाम नहीं है बस कि सूर न राधा और ऊप्प के प्रेम में विचरता है । राधा-ऊप्प साथ-साथ रति-विकास की धर

य, पाट म साय-साय गान गुहान जात म यतों भर न जाकर एक छोर के बरीह बनाते और बिटाते थे। उनका प्रेम साकस्मिक चिन्तन नहीं था। किन्तु हमारी दृष्टिकोण प्रेम के सागमन को साकस्मिक मानता है। नायिका का नायक न किसी विपत्ति से बचा क्या सिना, तुरन्त प्रेम हो गया। और हा और, 'उर्बशी' न रति का वैसा ना बिकाम नहीं दिखलाना गया है वैसा कि प्रसाद न 'कामायनी' में दिखलाना है। 'कामायनी' में प्रणय बीर-बीरे मुकुलित हुआ है, परन्तु 'उर्बशी' में वह एक चारमी मिल गया है। यहाँ में पहले चिन्तक है डिखा है यकाज है मगना है—

‘मिर रही पलकें झुकी थी नायिका की नोक।
मू लता थी कम तक चढ़ी रही बरोक।
स्वयं करने लगी मगना समित कर्ण-कपोल।
भरा पुसक कदम्ब मा या भरे पद्-पद् बाल।’^१

किन्तु 'उर्बशी' का प्रथम दृश्य से ही 'कानना बहि' की मिया मुख में मनबन्ध, में सुनिवार बन जाती है। मनोविज्ञान की दृष्टि में यह कुछ उर्बशी नहीं है। स्वयं दिखकर न 'रमवती' में प्रणय-विकास का एक बन रखा था—

‘कुछ चिन्मय कुछ दीन हवा में
धनिमाया कुछ मन म।
पर न जाय बात मुक्त मखिन्न
प्रथम प्रथम परिचय म।’^२

यह प्रथम 'उर्बशी' में कवि नहीं निना गया।

कामाख्यारम

‘उर्बशी’ में शिव आध्यात्मिक की चला को जाती है वह प्रथम की उर्बशी भूमि के परिचित और कुछ है ही नहीं। स्वयं कवि न खूब बहिरा क

१ कामायनी २४

२ रमवती ४

‘भौतिकोत्तर सीम्य’ का संकेत दिया है। काम को धर्म्यात्म की पीठिका पर प्रस्तुत करने का अर्थ तबकाव में बहुत पहुँचे ही चुका है। दिनकर ने स्वयं भूमिका में इसका संकेत किया है। चायब महाभूम्य सहस्रार धर्म तबकाव के धनक परिभाषिक समर्थों का प्रयोग उर्बची में इसीलिए हुआ है। ‘उर्बची’ का कामाध्यात्म धर्मिणः मनोविज्ञान के धामोक्त में उल्लिखित हो सका है। यूरोप में जब फायड चाये तब धर्म के निवृत्तिवादी रूप के पाप छपड़ने लगे और मनुष्य की दुर्बल विचित्रता में काम की महिमा को समझा। इसी के उपन्यासकार १९ वीं सताब्दी में सेमबेस बट्सर और बाइसमर हुए। काम पर प्राकृतिक नियमन में मनुष्य की विचित्रता को मार दिया था। परिणामतः एक बन्ध्या सम्प्रदाय और लक्ष्मि पदा में रही थी। किसी युवक का एक युवती की ओर निहारना भी पाप समझा जाता था। इसी के परिणाम में १९ वीं सताब्दी में प्राकृतिक यौन-सम्बन्धों का प्रकार ओर-ओर से छुट्टा हुआ। डी एच० मारेंस की आवाज हस्तमैथुन की सम्प्रदाय के विरोध में उठाई गई आवाज है। मारेंस मनुष्य उपन्यासकारों ने यह बतलाया कि सेक्स का सार्वभौमिक पक्ष गृहित और हेतु नहीं है। सेक्स हमें उल्लेखित प्रदान करता है। मनुष्य में इससे नयी कल्पित बरती है। मारेंस ने बतलाया है कि नर और मादा के समायम के अर्थों में मनुष्य का एक तरह से पुनर्जन्म होता है। यही मोक्ष है। देह की जब पपड़ी टूटने लगती है तो आत्मा में नई धर्मीय धामोक्त भर जाता है। दिनकर भी यह मानते हैं कि प्रेम अनमता है देह से किन्तु, उसके विचारण की सारी सीमा-भूमि स्वभा और स्मिन् तक ही सीमित नहीं है। प्रेम भावना है किन्तु, यह भावना आत्मा में धर्मीय प्रसार भर देती है। वैदिक स्वर्ग का धर्म लक्ष्य रूप से धर्म की ओर जाता है। वे लिखते हैं प्रेम करने की समता साधारण समता नहीं है। यह तो हृदय के आध्यात्मिक प्रसार का नाम है। यह मनुष्य की उस शक्ति का नाम है, जो विकसित होकर उसे दूसरे मनुष्य के साथ एकाकार कर देती है। हाँ जिस हम साधारण प्रीति कहते हैं वह भी हमारी स्वभावों में पक्ष और चेतना में विषयी लगाकर हमें ऊपर उठा सकती है।^१ दिनकर का कामाध्यात्म यही है। यही प्रेम की अतीन्द्रियता है। काविक सम्पर्क पूरा भी जाता है, तब भी उसके मायुर्व का मोल नहीं सूझता है। कुछ समझनाहट बनी रहती है। दिनकर लिखते हैं प्रेम मध्य होते पिठती

भ्रकार नहीं सुम्बन की। 'उर्बशी' प्रेम की पतीप्रियता का वाक्यान्त है। इसी घम में यह कायाध्यात्म की कविता है। वस्तुतः उम्बयता की निरति ही ऐसी होती है जब व्यक्ति 'रक्त के कण में समाकर प्रायता क गीत' गाता चाहता है। दिनकर काम की अनिवार्यता पर चाह जितना बय है किन्तु यह कमी नहीं कहते कि काम मात्र देह की भूख ही है। उन्होंने 'उर्बशी' में इन्द्र यनुष का रत बीच कर यह प्रयास किया है कि ममिता और मयामकता से नयी भूमि से वे धन्यता का बीज बो दें। यह प्रयाग किन्तु दूर तक सफल हुआ है काव्यालोचन का विषय यही है। यदि उनका प्रयास सफल हुआ तो हिन्दी छेक में न नयी नविकता के नया मान लिए जाएँगे। यदि प्रयास सफल नहीं हुआ तो यह भी कम नहीं होगा कि नयी पीढ़ उन्हें धन्यावाद समझेगी।

प्रेम का स्वरूप

रीति काव्य माधुर्यता की उपासना करता था। उस युग का कवि किसी भी युवती सुन्दरी को निचोड़ लेता चाहता था। छायावादी काव्य में प्राकर वह प्रचलितमान मानस-मोह की प्रणयिनी रह गई। कवि के हाथ उसकी देह को छूने में भिन्नकृते न। यों रीति युग का भी कवि मन तो पिया क मोहरे भरत' की चर्चा कर लेता था और छायावाद का कवि भी अपनी 'निभूत मुठा' में 'ममि-मिमा' बुझा लेता था। किन्तु प्रचलित एक में वह की भूख की भी और बुरारे में मन की प्रासक्ति की। किन्तु 'उर्बशी' में प्रेम का चित्रण सख-प्रतिप्रय मानवीय है—वह देह की धमा भी है, मन का सम्पास भी। दिनकर ने ठीक ही पुररता के मुँह से कहलवाया है कि 'इन्द्र भूतले जिसे सत्य ही वह जन धमी धनुज है।

द्विधा का सबसे बड़ा चितेरा

धीर यह बात स्पष्टता से कही जानी चाहिए कि 'उर्बशी' में मनुष्य की द्विधा का बेजोड़ चित्रण हुआ है। द्विधा प्रत्य मनुष्य—वह मनुष्य जिसमें मिट्टी का ताप भी है, पगन की पीतलता भी—वह जो राग और विषय के बीच उड्डिम्न रहता है—वा बड़ा ही मानिक चित्रण 'उर्बशी' में हुआ है। यथा—

शक्ति का या पय है वह रक्त का भोजन नहीं है ।

रूप की माराधना का माय धासिगन नहीं है ।^१

किन्तु यशुप्य के मन का पशु पुनः अपनी सम्पूर्ण बबरता के माय जग उठता है—

रूप की माराधना का माय

धासिगन नहीं तो और क्या है ?

मेह का शीघ्र्य को उपहार

रस कुम्भन नहीं तो और क्या है ?^२

कही-कही इस दिशा का चित्रण एक ही पं० में हो गया है—

लण म प्रम अपाव निम्बु हो धामोदक में तैर

और पुनः बहु धाति महा जब पसे भी हिसल हों ।

अनी इजि गुण-गुण के परिचय से उत्पुस्त हरी सी

और अभी यह भाव योद म पकी हुई मैं कैसी

बुझती नारी बही प्रार्थना की कोई कविता है ।^३

दिनकर मूसलः दिशा के कवि हैं । और इस दिशा के चित्रण में पाहे वह 'कुच्छेद' हा या 'उबड़ी' के साधुनिक साहित्य में सर्वोपरि ठहरते हैं । इसके अन्तर्गत म 'कुरखेन' या 'उबड़ी' सामारण रचना बनकर रह गई होती । अनुभूति की तीव्रता—यात्री कविता का वास्तविक उपादान दिनकर में है—किन्तु काम की उन्माद में—धर्मिधर्मि के बराबर तक भावे-भावे वह उक्त रूप में नहीं रह पाती है । 'कुच्छेद और उबड़ी' के स्थावर्य में प्रथम अंश की प्रतिभा का कोई संकेत नहीं मिलता है । परिश्रामत दिनकर चित्रर तक पहुँच नहीं पाते हैं ।

१ उबड़ी, ४६

२ वही ४६

३ वही ६०

